

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL
वर्ष 2, अंक 6 अक्टूबर - दिसम्बर 2015

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का ○

मुक्ताचल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से...

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल'
(09 नवंबर 1936 - 10 फरवरी 1975)



सन् 1960 के बाद हिंदी कविता में जिस मोहभंग की शुरुआत हुई थी, धूमिल उसको अभिव्यक्ति करने वाले अत्यंत प्रभावशाली कवि हैं। उनकी कविता में परंपरा, सभ्यता, सुसूचित, शालीनता और भद्रता का विरोध है, क्योंकि इन सबकी आड़ में जो हृदय पलता है, उसे धूमिल पहचानते हैं। कवि धूमिल यह भी जानते हैं कि व्यवस्था अपनी रक्षा के लिये इन सबका उपयोग करती है, इसलिये वे इन सबका विरोध करते हैं। इस विरोध के कारण उनकी कविता में एक प्रकार की आक्रामकता मिलती है। जो उनकी कविता की प्रभावशीलता को बढ़ा देती है। धूमिल अकविता आंदोलन के प्रमुख कवियों में से एक हैं।

शहर, शाम और एक बूढ़ा : मैं

मैंने ऐसा कुछ भी नहीं किया है
कि मेरी प्रतिमा बने और उसके
उद्घाटन समारोह में
शहर के समझदार लोगों का एक पूरा व्यस्त दिन
खराब हो
मैंने अपनी थाली के एक किनारे बैठकर
बहुत साधारण जीवन जिया है
जेल के बगल की नागरिकता
और बूचड़खाने के सामने की सज्जनता
मुझे विरासत में मिली थी
मैंने उन्हें अपनी सहल्युति के साथ जोड़कर
दो कदम आगे बढ़ाया है
नगरपालिका ने मुझे
चायें रहना सिखलाया है
(सफल जीवन जीने के लिए
कारनेगो की किताब की नहीं,
सड़क के यातायात चिन्हों को
समझने की जरूरत है)
छांटे-मोटे झूठ के अलावा

मुझे नहीं मालूम कि बंदूक का वजन
क्या होता है।
चौरहे पर कवायद करते हुए
ट्रेफिक पुलिस के चेहरे पर
मुझे हमेशा, जनतंत्र का नक्शा
नज़र आया है।
और अब मैं निश्चित हूँ
मुझे कुछ नहीं करना है
मैं उम्र के उस मुकाम पर पहुँच गया हूँ
जहाँ फाइलें बंद हुआ करती हैं
मैं अपने बरामदे की निजी कुर्सी पर बैठा हूँ
बेझिझक...
सूरज मेरे जूते की नोक पर डूब रहा है
दूर कहीं बिगुल बज रहा है
यह फौजियों की वापसी का वक्त है
और शहर
अपने जूनून को
आहिस्ता आहिस्ता शीशे और रोशनी में
बदल रहा है।

(संसद से सड़क तक)

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-2, अंक- 6, अक्टूबर-दिसम्बर 2015

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : सुनील कुमार साव
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
आकल्पक : सोनू प्रजापति

व्यवस्थापन :

सुलेखा कुमारी, सोनम सिंह, जीवन सिंह, प्रियंका सिंह,
मृत्युंजय पाण्डेय, नगीना लाल दास, आनंद प्रसाद नोनिया,

विशेष सहयोग :

डॉ. इतु सिंह, डॉ. सुनीता साव, डॉ. दीपान्विता माजि, (कोलकाता)
डॉ. मनीषा झा (दार्जिलिंग), डॉ. पुनीत कुमार राय (छत्तीसगढ़),
लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता (वाराणसी), डॉ. रविकांत (लखनऊ),
मनोज कुमार साव (उत्तराखंड), राजीव रंजन (दिल्ली),

मुक्तांचल A/c- 50200014076551
HDFC BANK, BURRABAZAR,
KOLKATA- 700007
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09836943231
Email : shawsunil30@gmail.com

मुद्रक

शिक्षण
50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700 009

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षण	07 प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित :	परवर्ती अपभ्रंश और पुरानी हिंदी
	12 डॉ. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' :	बीसलदेवरास : आदिकाल का लोक-काव्योद्भास !
	17 डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र :	आदिकाल और रासो काव्य
	22 प्रो. रवि श्रीवास्तव :	उत्तर आधुनिकता क्या है ?
	अनुशीलन	
गण	26 डॉ. धनंजय वर्मा :	सुबोध की सहज, सरल, सुबोध कहानियाँ
	29 डॉ. अमीर चंद वैश्य :	विजेंद्र के काव्य-नाटकों में प्रतिरोध-सौंदर्य
	36 सुलेखा कुमारी :	अमीर खुसरो: आदिकाल के सामंजस्यवादी कवि
	विमर्श	
	40 स्मेश कुंतल मेघ :	मध्यकाल: रिनांसाओं और विषमताओं का संकुल
सृजन	46 प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी :	संस्कृत आलोचना के अनुत्तरित सवाल
	अन्तःपाठ	
	54 डॉ. राम किंकर पाण्डेय :	अमरकांत की कहानी 'डिप्टी कलक्टरी': टूटते सपने और बिखरते व्यक्तित्व की कथा
	गवेषणा	
	57 बीरेन्द्र सिंह :	हिंदी की जातीय साहित्य परंपरा और भारतेन्दु युग
संचार	64 अरुण प्रसाद रजक :	सिद्ध और नाथ साहित्य लोक-सत्य है, शास्त्र-सत्य नहीं
	कविता	
	68 महेन्द्र गगन :	हाथ: कुछ कविताएँ, उसकी खबर
	70 श्री हर्ष :	शब्दों का शोर, पसरी हुई रेत, भीतर का दर्द
	71 ओमप्रकाश अडिग :	मेरा अकेलापन, सुख का मीत गया, दूध-दांत, आकाशगंगा, अपनी नजर में
र	73 डॉ. सुवंश ठाकुर अकेला :	तभी आएँगे अच्छे दिन, आदमी को इन दिनों, कैसे अभिव्यक्त करूँ

शोध	75 सुसंस्कृति परिहारः	बच्चे की गेंद ने, बिजली का खँभा, सुबह से ही, समुद्र
	सरगम् के सुर साथे	
समीक्षण	77 रामदरश मिश्र :	नदी
	कहानी	
	80 सिद्धेश :	आगत प्रजन्म
	84 डॉ. जसबीर चावला :	अकेले चने का भाड़
	88 सेराज खान 'बातिश' :	जीवनधारा
पुस्तकायन	भाषान्तर	
	92 डॉ. वी. एल. नरसिंहम शिवकोटि :	एक जूही की कहानी (तेलुगु कहानी) मूल कथाकार: डॉ. के. एन. मल्लीश्वरी
	पुस्तकायन	
सृजन	98 डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र :	भूमिका नहीं : परिचय
	100 विमल वर्मा:	गरम लोहा ले रहा आकार
	105 डॉ. अर्चना पांडेय :	जाने लड़की पगली : मातृ-स्वरूप का आख्यान
	गतिविधियाँ	
संचार	108 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	110 अभिमत	
	111 मुक्तांचल प्राप्ति स्थान	

संस्तुति

समय की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए अकादमिक पत्रिका के प्रकाशन की हमारी कोशिश आठवें चरण तक पहुँच चुकी है। 'विद्यार्थी मंच' की दो वर्षों की तैयारी और 'अभिव्यंजना' से लेकर 'मुक्तांचल' की यात्रा के जोड़ ने हमें चार वर्षों के अनुभव की उपलब्धि दी है। समय के साथ प्रेरणा, सुझाव एवं सहयोग जुड़ते जा रहे हैं। हिंदी भाषा और साहित्य के अकादमिक जगत ने 'मुक्तांचल' को हाथों-हाथ लिया है। विचार, विश्लेषण, शोध एवं समीक्षण में जहाँ वरिष्ठ लेखकों एवं आलोचकों ने लगातार अपना महत् योगदान दिया है वहीं नई जमात के शोधार्थी, विद्यार्थी एवं समीक्षकों ने भी अपना भरपूर उत्साह दर्शाया है। सृजन पक्ष में भी रचनाकारों की नई पुरानी पीढ़ी जुड़ी रही है। 'मुक्तांचल' निरंतर एक ऐसे पर्यावरण को गढ़ने में प्रयत्नरत है जिससे न केवल सोच को एक नया आयाम मिल सके बल्कि शोध कार्य में फैली यांत्रिकता भी दूर हो।

सृजन और समीक्षण दोनों एक-दूसरे के समानांतर चलते हैं। सृजन में आई नवीनता समीक्षण के नये औजार की मांग करती है। नई कसौटी पर खरादी जाकर रचनाएँ मूल्यांकित और पुनर्मूल्यांकित होती रहती हैं। आलोचना एवं मूल्यांकन का सिलसिला लगातार जारी रहे इसके लिए आवश्यक है कि हममें निरीक्षण एवं परीक्षण की प्रवृत्ति का निरंतर विकास हो। हमें अपने परम्परागत साहित्य का भी विहंगावलोकन करना होगा। हमारी रेखा लम्बी होनी चाहिए। सुदूर अतीत से लेकर अद्यतन और आगे भविष्य तक भी।

'मुक्तांचल' के इस अंक में हिंदी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध लगभग हजार वर्ष की प्रवृत्तियों, विमर्शों एवं सृजन संदर्भों की पड़ताल की गई है। पुराने साहित्य को भी निरंतर निकष की जरूरत होती है। अतीत, इतिहास या परम्परा कुछ भी महत्वहीन नहीं है। गवेषणा के खूब सारे आयाम अतीत से लेकर वर्तमान तक फैले पड़े हैं, परंतु सुविधाभोगी उपभोक्ता संस्कृति हमें शोध एवं श्रम की प्रवृत्ति से अलगा रही है। आगामी दिनों तक अगर यही सिलसिला जारी रहा तो हिंदी की गौरवशाली अकादमिक परम्परा कुन्द होती नजर आयेगी। वस्तुतः अधुनातन समय के इस पड़ाव पर साहित्य का उपयोग तमाम सारे मुद्दों के लिए हो रहा है लेकिन स्वयं साहित्य अपने मुद्दों से हटकर कहीं खो गया है। उसका रूप-स्वरूप, इतिहास-भूगोल सब एकमेक होकर गड्ढमड हो गया है। समझ में नहीं आता है, आज साहित्य का कौन-सा रूप प्रभावी हो रहा है, भाषा किन शब्दों से लैस हो रही है। हमलावर शब्दों से रचे वाक्य कहीं घन की तरह बरस रहे हैं तो कहीं बाज की तरह झपट रहे हैं। तिक्तता का तूफान हर तरफ चल रहा है। शालीनता और सौजन्य के अभाव में हमारी संवेदना जब दम तोड़ रही हो तब साहित्य का लक्ष्य सत्य, शिव और सुंदर कैसे रह सकता है? इसी प्रश्न की खोज में निरंतर 'मुक्तांचल' संलग्न रहेगा, इसी संकल्प के साथ—


संपादक

परवर्ती अपभ्रंश और पुरानी हिंदी

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

हिंदी भाषा और साहित्य के आदिकाल का उद्भव कब से माना जायेगा ? यह विवाद वर्षों से लम्बित है। प्रारंभिक इतिहासकारों का मत था कि अपभ्रंश के बाद हिंदी भाषा का जन्म हुआ है। इस मत को निरस्त करते हुए राहुल जी ने यह स्थापना की थी कि परवर्ती अपभ्रंश ही 'पुरानी हिंदी' है। प्रसिद्ध भाषाविद् गुलेरी जी ने अनेकानेक प्रमाणों के माध्यम से यह सिद्ध किया था कि संस्कृत, पालि और प्राकृत की परंपरा में जो 'देस भाषाएँ' विकसित हुयीं, उन्हें ही अपभ्रंश, अवहट्ट, अवहंस आदि नाम दिये गये हैं। विद्यापति ने उसे 'देसिल बयना' कहा था। राजस्थान में उसे डिंगल कह गया था। आदिकाल के तांत्रिकों और योगमार्गी बौद्धों ने उसे 'प्राकृताभास भाषा' कहा था। वस्तुतः इस भाषा का सिद्धि, जैन कवियों और नाथ कवियों ने भरपूर उपयोग किया है। राहुल जी ने सिद्ध नाथ कवियों की खोज करते हुए 'प्राचीन काव्यधारा' नामक ग्रंथ में छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आठवीं शताब्दी तक सैंतालिस कवियों को इस भाषा से सम्बद्ध सिद्ध किया है। गुलेरी जी ने हेमचंद्र के व्याकरण में प्रयुक्त दोहों से और भोज, मुंज आदि कवियों की रचनाओं से इस भाषा के कई नमूनों की ओर ध्यानाकर्षण किया है। इन पुराविदों के अनुसार अपभ्रंश का प्रयोग पाँचवीं शताब्दी से शुरू हुआ है। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक नाटक में प्रथम बार जन सामान्य के लिए अपभ्रंश संवादों का प्रयोग किया। भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में इस भाषा को स्थान दिया। इन विद्वानों के अनुसार वर्धनयुग अर्थात् छठी शताब्दी में प्राकृत और अपभ्रंश दोनों भाषाओं का समानान्तर विकास हुआ है। उस युग में अपभ्रंश के 24 प्रकार और देस भाषाओं के 18 भेद विकसित हुए। इनका उपयोग गुणादय, राजशेखर आदि ने भी किया।

कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि अपभ्रंश कोई प्रथम भाषा नहीं थी। वस्तुतः प्राकृत भाषाओं के। बोलचाल वाले रूप को ही अपभ्रंश कहा गया था, क्योंकि बोलचाल से जुड़ जाने के कारण उनका शब्दानुशासन अस्त-व्यस्त हो गया था। यह विचारणीय है कि कोई भी अपनी भाषा को अपभ्रंश अर्थात् भ्रष्ट नहीं कहना चाहेगा। यह आपेक्ष प्राकृत और संस्कृत के पंडितों द्वारा किया गया था। वस्तुतः प्राकृत का साहित्यिक रूप 'महाराष्ट्री प्राकृत' हो गया था और

अपभ्रंश जन भाषा (वर्नाकुलर) रूप में परिणत हो गयी थी। यही कारण है कि अपभ्रंश के स्वतंत्र भेद विकसित नहीं हुए बल्कि प्राकृत के भेदों (जैसे- मागधी, नागर, शौरसेनी आदि) को ही अपभ्रंश के साथ जोड़ दिया गया।

इसी अपभ्रंश से ब्रज, अवधी, खड़ीबोली, मैथिली, राजस्थानी आदि का आविर्भाव हुआ। यह परंपरा सातवीं शताब्दी से पूरे वेग के साथ आरंभ हुई। इसीलिए डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपभ्रंश से प्रभावित आदिकाल को 'संधिकाल' का नाम दिया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसको 'देस भाषा' नाम दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह स्थापित किया कि इस अपभ्रंश से राजस्थानी, डिंगल, मैथिली, अवहट्ट, ब्रज-अवधी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, अरबी, फारसी आदि का मिला जुला रूप विकसित हुआ, उसे ही कालांतर में आभीर संस्कृति से युक्त हिंदी कहा गया है।

ज्ञातव्य है कि 'पुरानी हिंदी' की यह लेखन-परंपरा सातवीं शताब्दी से शुरू हुई है। इस परंपरा का प्रथम कवि है- पुष्य, जिसका एक नामांतर 'पुष्प' भी शिवसिंह सरोज में प्राप्त होता है। पुष्य ने सातवीं शताब्दी में 'महापुराण' की रचना की, जिसमें पहली-पहली बार पुरानी हिंदी, भाषा लिखी गयी है। निःसंदेह इसे ही हिंदी काव्य का प्रस्थान कहा जा सकता है।

आदिकाल के हिंदी काव्य की दूसरी रचना है- स्वयंभू का 'पउमचरित' (सातवीं शती) जो 'पद्मपुराण' पर आधारित रामकथा है। दूसरा 'पउमचरित' विमल सूरि रचित है।

इसी अवधि (8वीं शताब्दी) में देवसेन ने 'दोहाकोश' की रचना की। स्वयंभू और देवसेन को अब विद्वान परवर्ती अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिंदी से जुड़ा हुआ मानने लगे हैं।

इन कवियों के अपेक्षा 7वीं शती के कवि सरहपाद हिंदी से ज्यादा जुड़े हुए दिखाई देते हैं। सरह ने 758 ई. में 'दोहाकोश' की रचना की। उसकी भाषा का एक नमूना द्रष्टव्य है-

'करुणा रहित जो सून्यहि लागा।

नहिं तेहि पावहि उत्तम मागा।।

अर्थात् जो निष्करुण भाव से केवल शून्य की साधना

करता है, उसके द्वारा उत्तम मार्ग (सुगति) सहजोपलब्ध्य नहीं है। सरह ने चर्यापदों की रचना भी इसी भाषा में की है। वे दर्शन का 'दिग्दर्शन' करते हुए लिखते हैं-

"जेहि मग पवन न संचरइ रवि ससि- नाई प्रवेस।"

यह भाषा स्पष्टतः समकालीन हिंदी के निकट (बहुत निकट) है। ऐसे ही भाषिक प्रयोग धनपाल रचित 'भविष्यत्तकहा' (10वीं शती) में भी प्राप्त होते हैं।

कल्लोल ने 10वीं शती में 'ढोला मारू रा दूहा' की जो रचना की और रोड़ा ने 10वीं शती में 'राउलबेल' नामक जो कृति लिखी, उन दोनों में इससे मिलती-जुलती भाषा प्रयुक्त हुई है। इस बीच हिंदी काफी सुस्थिर है। रामसिंह द्वारा रचित 'पाहुड़ दोहा' में इसके समतुल्य कई प्रयोग प्राप्त होते हैं। यही नहीं, 11वीं शती में यह भाषा जन भाषा के रूप में प्रचलित हो गयी, जो आगे चलकर अवधी के रूप में अभिहित की गयी। इसीलिए इसमें दामोदर पंडित ने 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक ग्रंथ की रचना की और उसके माध्यम से संस्कृत भाषा के व्याकरण को जन-जन तक पहुँचाया।

12वीं सदी में इस भाषा में कई महत्वपूर्ण हिंदी रचनाएं अस्तित्व में आईं। जैसे- अद्दमाण का 'संदेश रासक', खुसरो कृत 'कुतुब शतक' और 'खालिकबारी'। इस बीच खुसरो ने जो पहेलियाँ लिखीं, वे तो वर्तमान हिंदी खड़ी बोली के काफी निकट दिखायी दे रही हैं। खुसरो के प्रसिद्ध पद निश्चय ही आज की हिंदी के बहुत निकट हैं। जैसे- 'बहुत कठिन है डगर पनघट की।', 'काहे को ब्याही विदेश रे लखी बाबुल मोरे।', 'मोहे अपने रंग में रंग ले पिया।', 'गोरी सोवे सेज पर मुँह पर डाले केश।', 'चल खुसरो घर आपने रैन भयी चहुँ देस।', 'एक थाल मोती से भरा। सिर के ऊपर उल्टा धरा।' आदि।

खुसरो ने अरबी, फारसी, संस्कृत और लोकभाषाओं को मिलाकर हिंदी का नया रूप गढ़ा, जो आज तक प्रचलित है। यही नहीं, उन्होंने हिंदी का पहला शब्दकोश (खालिकबारी) निर्मित किया। उसी क्रम में मुल्ला दाऊद कृत 'चंदायन' (13वीं शती) विष्णुदास, रामानंद कृत- (रामकाव्य) (13वीं शती) विद्यापति कृत 'कृष्ण काव्य' (13वीं शती) और 'प्राकृत पैंगलम्' जैसी रचनाएँ अस्तित्व

में आयीं।

निष्कर्ष यह है कि आदिकालीन हिंदी साहित्य में अपभ्रंश मिश्रित 'पुरानी हिंदी' का बहुशः प्रयोग किया गया है। इस अवधि में कई प्रकार की काव्य-परंपराएँ विकसित हुईं। जैसे- 'नाथसिद्ध साहित्य, चारण-रासोकाव्य, प्रशस्ति काव्य, जैन काव्य, संत साहित्य, सूफी काव्य, बीसलदेव रासो जैसे श्रृंगार काव्य, रामकृष्ण काव्य, ढोला मारू रा दूहा जैसी लोक गाथा, उक्ति व्यक्ति प्रकरण, वर्ण रत्नाकर, प्राकृत पेंगलम् जैसे व्याकरण ग्रंथ, नीति काव्य आदि।

इस अवधि में गुजराती के कवि अखा, नरसीमेहता, मराठी के ज्ञानेश्वर, प्राकृत के गुणाढ्य आदि कवियों ने इस भाषा का प्रयोग किया। कालक्रम में यह भाषा काव्य भाषा के रूप में स्थापित हुई। अस्तु, सिद्ध है कि प्राकृत से भिन्न और परवर्ती अपभ्रंश से उत्पन्न 'पुरानी हिंदी' में रची गयीं गद्य-पद्य कृतियों का यह सिलसिला 7वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी तक विद्यमान है। इससे लगता है कि हिंदी का आविर्भाव बोलचाल की भाषा के रूप में छठी शताब्दी से अवश्य शुरू हुआ होगा और 100 वर्षों के भीतर उसने साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लिया होगा। इस प्रकार सिद्ध है कि हिंदी भाषा ने अपने जीवन के लगभग 1500 वर्ष पूरे कर लिये हैं और अब वह शास्त्रीय भाषा की कोटि में पहुँच गई है।

भारत की जो अन्य शास्त्रीय भाषाएँ हैं, उनमें संस्कृत प्राचीनतम है। भारत की दूसरी प्राचीनतम भाषा है तमिल। इसकी प्रथम कृति की रचना 400 वर्ष ईसा पूर्व की मानी जाती है। इस प्रकार तमिल का अस्तित्व लगभग ढाई तीन हजार वर्ष पुराना है।

तीसरे क्रम में कन्नड़ की गणना की जाती है। कन्नड़ के इतिहास में पूर्व पम्प युग आठवीं शताब्दी तक माना जाता है। क्योंकि पम्पयुग की शुरुआत 950 ई. से मानी जाती है। कन्नड़ की प्रथम कृति 'कविराज मार्ग' की रचना 815 ई. में बतायी गयी है। इस प्रकार भाषा रूप में अवश्य ही उसके 1500 वर्ष पूरे हो गये होंगे।

द्रविड़ भाषाओं में तेलुगु भाषा भी काफी पुरानी है। इसका स्फुट साहित्य सातवीं शताब्दी से संबद्ध प्रतीत होता है। इतिहासकारों ने इसके आद्युग को पूर्ववर्ती आज्ञात युग

माना है।

इस प्रकार तमिल कन्नड़ एवं तेलुगु का शास्त्रीय भाषा रूप सहज स्वीकार्य है। अब इनके साथ-साथ हिंदी का शास्त्रीय रूप विचारणीय है। ऊपर जो तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं, उनके अनुसार हिंदी के अंतर्गत पंजाबी, गुजराती, बंगला, मैथिली, असमी एवं मराठी बहुत असें तक सन्निविष्ट रही हैं। गुजराती में अब जिन कृतियों को सम्मिलित किया जा रहा है (जैसे भारतेश्वर- बाहुबली, चंदन बाला रास, जैन कवियों के फाग, प्रबंध चिंतामणि, संदेश रासक आदि) वे हिंदी साहित्य के इतिहास से भी संबद्ध हैं। इसी प्रकार पंजाबी के आदि कवि बाबा फरीद (1173 ई.) बुल्लेशाह, बारिसशाह, गुरु ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि ने प्रभूत मात्रा में हिंदी में रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। पूर्वांचल की भाषाओं में असमिया और बाँग्ला में भी बाउलगीत, चर्यापद, कीर्तन और अंकियानाट रचे गये हैं। उनकी 'ब्रजबुली' भाषा में हिंदी का भी पुट है। दकनी हिंदी ने मराठी और तेलुगु, कन्नड़ के साथ जो घनिष्ठ संबंध स्थापित किया, वह आज भी सुरक्षित है।

निष्कर्ष यह है कि हिंदी भाषा किसी-न-किसी रूप में भारत की विभिन्न भाषाओं से जुड़ी रही है। दूसरे, उसका प्रचीन रूप यानी परवर्ती अपभ्रंश (पुरानी हिंदी) के रूप में छठी शताब्दी में और काव्य भाषा वाला रूप सातवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया, जो कालक्रम में विकसित होता हुआ आज की मानक हिंदी के रूप में स्थिर हो गया है। इस प्रकार सिद्ध है कि हिंदी भाषा का इतिहास लगभग 1500 वर्ष पुराना है।

अपभ्रंश और हिंदी के सह-सम्बन्धों पर गंभीर चिंतन हुआ है। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिंदी काव्यधारा' की भूमिका में अपभ्रंश भाषा को हिंदी में सर्वथा अभिन्न माना है। सरहपा को हिंदी का प्रथम कवि मानते हैं। सरहपा का समय सातवीं शती निर्धारित किया गया है। हिंदी साहित्य का परंपरागत इतिहास लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व से आरंभ हुआ है। इस इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जाना उपयुक्त होगा-

1. आदिकाल (700 ई. से 1300 ई.)
2. मध्यकाल (1300 ई. से 1850 ई. तक)

3. आधुनिक काल (1850 ई. से)

प्रथम युग को राहुल जी ने सिद्ध-सामंत युग नाम दिया है। इस युग का एक छोर उन्होंने सरहपा को और दूसरा छोर राजशेखर सूरि (१३०० ई.) को माना है। इस प्रकार परिनिष्ठत अपभ्रंश और उसके परवर्ती रूप 'अवहट्ट' तथा 'पुरानी हिंदी' को राहुल जी एक ही साथ लेकर इस समग्र युग को हिंदी साहित्य का आदिकाल मानते हैं। राहुल जी से पूर्व पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने भी हेमचंद्र के व्याकरण के दोहे, मुंज तथा अन्य अपभ्रंश-कवियों के मुक्तक पद्यों का संग्रह प्रस्तुत करते हुए इनकी भाषा को स्पष्टतः 'पुरानी हिंदी' कहा।

अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' की संज्ञा देने वाले विद्वानों का प्रमुख तर्क यह है कि अब भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया। उसका ढाँचा बिल्कुल बदल गया। उसने नए सुबन्तों, तिङंतों की सृष्टि की और ऐसी सृष्टि की जिससे वह हिंदी से अभिन्न और संस्कृत, प्राकृत, पालि से काफी भिन्न हो गयी है। यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि अपभ्रंश ध्वन्यात्मक संघटना की दृष्टि से भले ही प्राकृत से अधिक दूर न गयी हो, क्योंकि उसकी ध्वनियों का ढाँचा कमोवेश वही रहा, फिर भी उसकी पदरचनात्मक संघटना, उसका व्याकरणिक ढाँचा, संश्लिष्ट कोटि को छोड़कर विश्लिष्ट कोटि का होने लगा। निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग और परसर्गों के उदय ने उसके वाक्य-विन्यास में भी ऐसी नवीनता ला दी जो संस्कृत तथा प्राकृत के लिए अपरिचित थी। पर इतना होते हुए भी जब हम अपभ्रंश के व्याकरणिक ढाँचे का पर्यालोचन करते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि ये प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश में केवल बीज रूप में हैं। नव्यभारतीय आर्यभाषाओं के भाषावैज्ञानिक अध्ययन की शुरुआत मध्यभारतीय आर्यभाषा के इसी अंतिम युग, अर्थात् अपभ्रंश काल से हुई। इसी काल में उन भाषागत प्रवृत्तियों के दर्शन होने लगते हैं जो आगे नव्यभारतीय आर्यभाषा की भेदक विशेषताएँ बन गईं।

अपभ्रंश को पुरानी हिंदी मान लेने का अर्थ यह नहीं है कि अपभ्रंश की समस्त कृतियाँ केवल हिंदी की ही संपत्ति हैं। ऐसी दशा में अन्य नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के विद्वानों को आपत्ति हो सकती है। वस्तु स्थिति तो यह है कि

'सारी आधुनिक उत्तर भाषाएँ पहले अपभ्रंश से जुड़ी हुईं और बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं।' इस दृष्टि से उस समय तक, जब कि अपभ्रंश का साहित्यिक रूप सर्वथा अविभक्त मिलता है, अपभ्रंश भाषा को एक स्वतंत्र ईकाई के रूप में ही लेना ठीक होगा। 'पुरानी' विश्लेषण लगा कर एक भाषा वैज्ञानिक नामकरण की कल्पना उसी समय से करनी चाहिए, जब स्पष्ट रूप में उसकी भेदक विशेषताएँ प्रस्फुटित होती दिखाई दें। इस आधार पर हिंदी साहित्य के परंपरागत ऐतिहासिक धारणा के द्वारा मान्य आदिकाल 700 ई. से 1000 ई. तक की भाषा को 'पुरानी हिंदी' कहना अधिक ठीक होगा। यही वह युग है जिसकी कृतियों में अपभ्रंश काल की कृतियों की भाषा अपेक्षा विश्लिष्ट प्रकृति अधिक स्पष्ट हो गयी है। भले ही मध्य युग के आरंभ में नये धार्मिक और सांस्कृतिक जागरण के कारण भाषा के शब्दकोश का ढाँचा अत्यधिक प्रभावित हुआ हो और उसने तत्सम-बहुलता और अर्द्धतत्सम-बहुलता के कारण 'पुरानी हिंदी' की ध्वन्यात्मक संघटना को भी परिवर्तित कर दिया हो, किंतु उसके व्याकरणिक या पद रचनात्मक रूपों का विकास बहुत हद तक उसी दिशा में होता रहा, जिसके स्पष्ट भेदक लक्षण आदिकाल की भाषा में प्रकट हुए हो चुके थे।

अपभ्रंश एवं देशी भाषा :- अपभ्रंश के कवियों ने अपनी भाषा के लिए 'अवहट्ट', 'अवभंश', 'अवहंस' आदि नामों के अतिरिक्त देशी, देश्य या देशी शब्द का भी प्रयोग किया है। अपभ्रंश शब्द की भाँति ही यह शब्द भी मूलतः उन शब्दों के लिए प्रयुक्त मिलता है, जो जन सामान्य की देश्य भाषा में मिलते हैं, और जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों से सिद्ध नहीं की जा सकती। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। वहाँ उन्होंने तत्सम और तद्भव शब्दों की कोटि से भिन्न शब्दों की एक तृतीय कोटि भी मानी है, जिसे वे 'देशी मत' कहते हैं। अन्यत्र वे 'देश भाषा' शब्द का प्रयोग प्रायः सभी प्राकृत विभाषाओं के लिए करते हैं, जिसमें अपभ्रंश का भी समावेश हो जाता है। भरत के इस उल्लेख से 'अपभ्रंश' और 'देशी' इन दो शब्दों का केवल इतना ही संबंध ज्ञात होता है कि 'देशी' उस समय की समस्त कथ्य विभाषाओं

के लिए प्रयुक्त सामान्य संज्ञा है, जिसमें अपभ्रंश भी अन्तर्भुक्त है। कालांतर में 'देशी' या 'देशीबयण' (देशी वचन) का प्रयोग विशिष्ट प्राकृत के लिए भी होने लगा। प्राकृत जैन-कवि पावल्लिप्त ने 'तरंगवती-कथा' में अपनी भाषा को 'देसिवयण' कहा है, जो वस्तुतः महाराष्ट्री के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्राकृत वैयाकरणों में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले चण्ड हैं, जिन्होंने अपने 'प्राकृत लक्षण' ग्रंथ में 'देशी-प्रसिद्ध' शब्द का प्रयोग उन संस्कृतेतर तथा प्राकृतेतर शब्दों के लिए किया है, जो उस समय की बोलियों में प्रयुक्त होते थे। यहाँ यह नाम भाषा-विशेष का संकेत नहीं करता। ईसा की नवीं शती से अपभ्रंश-कवि 'देशी' शब्द का प्रयोग अपने काव्यों की उस भाषा के लिए करते दिखाई पड़ते हैं, जिसे प्राकृत वैयाकरण और आधुनिक भाषाशास्त्री अपभ्रंश कहते हैं। इस संबंध में स्वयंभू से लेकर बाद तक के कई अपभ्रंश के कवियों के उद्धरण दिये जा सकते हैं। अपभ्रंश काल के बाद भी इस शब्द का प्रयोग नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के लिए मिलता है, ठीक उसी तरह, जिस तरह नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के कई प्राचीन कवियों ने अपनी भाषा को 'प्राकृत' कहा है, और चण्डीदास ने 'श्रीकृष्ण संकीर्तन' में भी बंगला के लिए 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग किया है, उसी तरह संत ज्ञानेश्वर मराठी के लिए 'देशी' शब्द का प्रयोग करते हैं और दूसरी ओर विद्यापति ठाकुर 'कीर्तिलता' की भाषा को अवहट्ट के साथ-ही-साथ 'देसिल बयना' भी कहते हैं। वस्तुतः 'देशी' एक सामान्य संज्ञा है, जिसका अर्थ सम-सामयिक कथ्य शैली से है। यह प्रयोग ठीक उसी तरह होता है, जिस तरह अंग्रेजी शब्द 'वर्नाक्यूलर' का। इसलिए जिस तरह 'पुरानी हिंदी' शब्द का प्रयोग भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अपभ्रंश काल की भाषा के लिए अव्याप्ति दोष के कारण ठीक नहीं जँचता, उसी तरह 'देशी' शब्द भी जातिव्याप्ति दोष के कारण अपभ्रंश की निजी वैज्ञानिक प्रवृत्ति का संकेत करने में असमर्थ है।

इस संबंध में 'देशी' शब्दों पर कुछ विचार करना अनावश्यक न होगा। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार 'देशी' शब्द वे हैं, जिनकी संस्कृत अर्थात् तत्सम और प्राकृत अर्थात् तद्भव रूपों से कोई व्युत्पत्ति नहीं जोड़ी जा सकती। प्राकृत वैयाकरण यह मानते हैं कि प्राकृत का प्रत्येक शब्द, रूप और अर्थ की दृष्टि से संस्कृत से विकसित नहीं माना जा सकता। पंडित शब्दार्थ-निरुक्ति-कुशलता के अनुपात में ही कुछ ऐसे शब्दों को देश्य घोषित करते हैं, जिन्हें अन्य विद्वान तत्सम अथवा तद्भव मानते हैं। 'देशी' शब्दों में अनेक ऐसे हैं, जिनका संबंध स्पष्टतः संस्कृत मूल शब्द या धातु से है, किंतु जिनका कोई ठीक-ठीक रूप संस्कृत में नहीं मिलता। हेमचंद्र ने 'देशी नाममाला' में ऐसे ही शब्दों की तालिका, उनके समानान्तर संस्कृत शब्दों के साथ, संकलित की है। इस ग्रंथ के आरंभ में वे बताते हैं— 'मैंने यहाँ उन शब्दों को निबद्ध किया है जो संस्कृत निरुक्ति और कोश में लक्षण के अनुसार न तो सिद्ध ही हैं और न प्रयुक्त ही, और जो गौणी या लक्षण आदि शक्तियों के द्वारा भी व्युत्पादित नहीं किये जा सकते। कथ्य-भाषा में ऐसे अनंत शब्दों का प्रयोग पाया जाता है, जो देश-विदेश में प्रयुक्त होते हैं, इसलिए 'देशी' पारिभाषिक संज्ञा उन शब्दों के लिए है, जो अज्ञात मूल होकर प्राकृत की कथ्यशैली में प्रयुक्त है।

प्राकृत तथा अपभ्रंश में उपलब्ध इन 'देशी' शब्दों का इतिहास निस्संदेह मनोरंजक है। प्राकृत वैयाकरणों ने ऐसे अनेक शब्दों और धात्वादेशों को देशी मान लिया है जो किसी-न-किसी रूप में संस्कृत शब्दों से व्युत्पन्न जान पड़ते हैं। इसी तरह ऐसे भी अनेक देशी शब्द हैं, जिनका मूल उद्गम द्रविड़ तथा आग्नेय परिवार के शब्दकोश में ढूँढा जा सकता है। इतना ही नहीं, अनेक देशी शब्द मूलतः ध्वन्यानुकरण के आधार पर बनाये गये जान पड़ते हैं। इन 'देशी' शब्दों की संपदा अपभ्रंश काल में पर्याप्त है, और नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में उतरोत्तर बढ़ती गयी है।

संपर्क:

साहित्यिकी, डी-54, निराला नगर, लखनऊ-226020, मो. 9451123525

बीसलदेवरास : आदिकाल का लोक-काव्योद्भास!

डॉ. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

बीसलदेव रास आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'वीरगीत के रूप में एक छोटा-सा ग्रंथ', डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'बीसलदेव का काल्पनिक प्रेम-कथानक', डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'गीतात्मक ग्रंथ', पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में 'गीत-प्रबंध के रूप में लिखित मूलतः 'लोकगीत' तथा 'विरह-काव्य मात्र' पं. मोतीलाल मेनारिया के शब्दों में 'साहित्यिक दृष्टि से बहुत निम्नकोटि का ग्रंथ', श्री सत्यजीवन वर्मा के शब्दों में 'साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ', डॉ. माता प्रसाद गुप्त के शब्दों में 'एक खंडकाव्य' तथा 'शृंगारपरक होते हुए भी नीति-रचना' और 'हिंदी का गौरव ग्रंथ', डॉ. तारकनाथ अग्रवाल के शब्दों में 'शताब्दियों पूर्व के भारत की अवस्था की दिग्दर्शिका' और 'हिंदी जगत की अमूल्य निधि', डॉ. लक्ष्मी सागर वाष्णीय के शब्दों में 'प्रधानतः नृत्य-गीत-प्रधान वर्णनात्मक काव्य', डॉ. भोलाशंकर व्यास के शब्दों में 'आमूलचूल शृंगार का काव्य' और डॉ. गणपति चंद्र गुप्त के शब्दों में 'अनुभूतियों की सहज-स्वभाविक अभिव्यक्ति की दृष्टि से उच्चकोटि की रचना' है। इसके कवि नरपति नाल्ह ने स्वयं इसे 'अस्त्री रसासण करूं बखान' कहकर 'नारी-काव्य' तथा 'अमृतरसायण नरपति व्यास' लिखकर 'अमृतकाव्य' की संज्ञा से भी अभिहित किया है। वह जो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहीं आदिकालीन साहित्य का वैशिष्ट्य उद्घाटित करते हुए लिखा है कि वह साहित्य "अपभ्रंश कवि द्वारा निबद्ध उस अकिंचना सुंदरी के समान है जिसके सिर पर एक फटी-पुरानी कमली थी, गले में दस-बीस गुरियों की माला थी फिर भी उसका सौंदर्य ऐसा मनोहर था कि रसिकों को कितनी ही बार उठा-बैठी करने को बाध्य होना पड़ा-

"सिरि जरखंडी लोअड़ी गलिमणि अड़ानबीस।

तोवि गोदुड़ा कराविआ मुद्धए उटुबईस।।"

वह उक्ति आदिकालीन साहित्य की इस रास कृति पर भी पूर्णतः चरितार्थ होती है। वस्तुतः 'बीसलदेव रास' 'एक भावुक कवि की सरल कल्पना से प्रस्तुत ऐसे स्वस्थ प्रणय की कथा है जिसमें जीवन का तरल रस प्रवाहित हो रहा है।'

'बीसलदेव रास के रचनाकाल को लेकर मतैक्य नहीं है। मिश्र बंधु ने इसे संवत् 1220 में प्रणीत, लाला सीताराम और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे 1272 में रचित, अगरचंद्र नाहटा ने 13वीं शत्यूपरांत लिखित तथा पं. मोतीलाल मेनारिया ने संवत् 1545-1560 के बीच सर्जित स्वीकार किया है। डॉ. गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना माना है और गजराज ओझा ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के भाग-14, अंक-1 में बड़ा उपाश्रय, बीकानेर में प्राप्त एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर इसका रचनाकाल संवत् 1073 बताया है। श्री कृष्ण देव प्रसाद गौड़ के संयोजकत्व में प्रकाशित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नामक ग्रंथ में (द्वितीय खंड में) जयपुर की विद्या प्रचारिणी सभा में प्राप्त 'रास की सर्वाधिक

प्राचीन लिखित प्रति का उल्लेख है, जिसका लिप्यंकन काल संवत् 1669 है।'

'बीसलदेव रास' की कुल सोलह हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं। (डॉ. माता प्रसाद गुप्त में अपने संपादन की भूमिका में स्वीकार किया है) ये प्रतियाँ दो अलग-अलग कुलों की हैं। प्रथम कुल की प्रतियों में इसका रचनाकाल संवत् 1212 और संवत् 1272 माना गया है, पर द्वितीय कुल की प्रतियों में रचनाकाल संवत् 1073 या 1077 निर्दिष्ट है। प्रथम कुल की प्रतियों में वर्णन-विस्तार कहीं अधिक है, कथा चार खंडों में विभक्त है तथा सरदारों के विशेष रूप में नामोल्लेख हुए हैं। द्वितीय कुल की प्रतियों में वर्णन संक्षिप्त है, कथा खंड विभाजनहीन है, जिसकी परिसमाप्ति प्रथम कुल के तृतीय खंड की कथा के साथ ही हो जाती है। सरदारों के नामोल्लेख का यहाँ कोई आकर्षण नहीं है। निष्कर्षतः द्वितीय कुल की प्रतियों को डॉ. रामकुमार वर्मा ने प्रथम कुल की प्रतियों की अपेक्षा प्राचीन स्वीकार किया है। 'रास' की सभी प्राप्त प्रतियाँ पाठ साम्य के आधार पर पाँच समूहों में विभक्त की गई हैं—

1. म. समूह – प्रति के ऊपर बड़ौदा के जिनश्री मजूमदार का कागज लगा है, उनके आधार पर ही नामकरण हुआ है। इसकी दो प्रतियाँ प्राप्त हैं।

2. प. समूह – लिखने वाले पं. सीहा के नाम के प्रथमाक्षर के आधार पर यह नामकरण हुआ है। इसकी आठ प्रतियाँ प्राप्त हैं।

3. न. समूह— नरोत्तम दास स्वामी द्वारा करायी हुई किसी प्राचीन प्रतिलिपि के कारण इस समूह का नामकरण है। इसकी एक प्रति प्राप्त है।

4. अ. समूह— अगरचंद नाहटा द्वारा अंशतः स्वतः की हुई प्रतिलिपि के कारण यह नामकरण हुआ है। इसकी तीन प्रतियाँ प्राप्त हैं।

5. स. समूह— सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित संस्करण पर यह नामकरण आधारित है। दो प्रतियाँ प्राप्त हैं।

उक्त पाँचों समूहों में कुल पाँच सौ छंद प्राप्त होते हैं, जिनका सताईस अट्ठाईस प्रतिशत ही प्रामाणिक है। इस समूह के अब तक तीन संस्करण हो चुके हैं। पहला संस्करण सत्यजीवन वर्मा का है, दूसरा डॉ. माता प्रसाद

गुप्त का और तीसरा डॉ. तारकनाथ अग्रवाल का। श्री वर्मा और श्री अग्रवाल ने अपने-अपने संस्करणों में 246 पदों को समाविष्ट किया है किंतु डॉ. गुप्त ने पाठ संपादन के आधार पर 128 पद मात्र को प्रामाणिक माना है।

'बीसलदेव रासो' एक रासा ग्रंथ है। 'हिंदी शब्द सागर' में 'रासो' का अर्थ 'किसी राजा का पद्यबद्ध जीवन चरित्र, विशेषतः वह जीवन चरित्र जिसमें उसके युद्धों और वीरता आदि का वर्णन हो, के रूप में किया गया है। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'हिंदी साहित्य का अतीत', भाग-1 में मारवाड़ में इस शब्द के विविधार्थी प्रयोग के आधार पर इसके अर्थ क्रमशः कथा, झगड़ा, वाद-विवाद, बकवाद और लंबी-चौड़ी वार्ता निरूपित किए हैं। अपभ्रंश में 29 मात्रा का एक 'रासा' या 'रास' छंद भी प्रचलित था। द्विवेदी जी ने इसे एक प्रकार का काव्यभेद माना है। वैसे यह एक प्राचीन भारतीय नृत्य भी रहा है। 'रासो' या 'रासा' शब्द की व्युत्पत्ति गार्सा-द-तासी के अनुसार 'राजसूय' से, ग्रियर्सन के अनुसार 'राजा देश' से, शुक्ल जी के अनुसार, 'रसायण से', पं. मोहन लाल विष्णुलाल पांड्या के अनुसा 'रास' या 'रासक' से, पं. गौरी शंकर हीराचंद ओझा के अनुसार 'रास' से, आचार्य चंद्रबली पांडेय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. उदय नारायण तिवारी के अनुसार 'रासक' शब्द से, श्री नरोत्तम स्वामी के अनुसार 'रसिक' शब्द से और पं. रामनारायण दूगड़ के अनुसार 'रहस्य' से सिद्ध की गयी है। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'रासो' के लिए समय-समय पर उपस्थित- रास, रासा, रासो, रासौ, रायसा, रायसो- जैसे शब्दों तथा इनके व्युत्पादन के लिए संस्कृत के रहस्य, रसायण, राजादेश, राजयश, रास और रासक- जैसे प्रचलित शब्दों का उल्लेख किया है। मिश्र जी ने 'रहस्य', 'राजयश' और 'रसायण' से 'रासो' की व्युत्पत्ति को अनुचित और भ्रांत बताया है। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने 'बहुरूपक निबद्ध-परंपरा' के अंतर्गत- रासक, रासाबंध, रासय, रासउ, रासा, रासौ की तथा 'अल्परूपक निबद्ध परंपरा' के अंतर्गत- रास, रसायन की चर्चा की है। पं. नरोत्तम स्वामी भी 'रास' के अंतर्गत 'प्रेम-काव्य' को और 'रासो' के अंतर्गत 'वीर काव्य' को स्थान देते हैं। किंतु डॉ. लक्ष्मीसागर वाष्णीय ने 'रासो' और

‘रास’ के बीच की इस विभाजक रेखा का निषेध करते हैं। उनके अनुसार ‘रास’ तथा ‘रासो’ नामों में कोई भेद नहीं है। ऐसा नहीं है कि ‘रास’ में केवल कोमल भावनाओं का चित्रण रहता हो और ‘रासो’ में युद्धादि का वर्णन। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी ‘रास-रासो’ की इस अभेद स्थिति पर ध्यान नहीं देने के कारण ही यह लिखा था कि “‘इस छोटी-सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का रासो कहना खटकता है।” डॉ. वाष्णीय ने ‘रासक’ के परंपरित दो भेदों को स्पष्ट किया है- 1. मसृण रासक और उद्धत रासक। ‘मसृण’ में सुकुमार शृंगारत्मक विषय वर्णित होता है और ‘उद्धत’ में कठोर, वीररसात्मक विषय। ‘बीसलदेव रास’ निश्चयतः ‘मसृण रासक’ की परम्परा की कृति है।

‘बीसलदेव रासो’ 2000 चरणों का काव्य-ग्रंथ है। इसकी कथा चार खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में 85 छंद, द्वितीय खंड में 86 छंद, तृतीय खंड में 103 छंद और चतुर्थ खंड में 42 छंद हैं। कुल छंद संख्या 316 है। प्रथम खंड में बीसलदेव से राजमती के विवाह का वर्णन, द्वितीय खंड में बीसलदेव का रूठकर उड़ीसा जाना, तृतीय खंड में राजमती का विरह वर्णन और चतुर्थ खंड में भोज द्वारा आत्मजा राजमती को वापस ले जाने तथा पुनः बीसलदेव द्वारा उसे चित्तौड़ लौटा लेने का वर्णन है। सभी इतिहासकारों ने इस कृति का उल्लेख किया है। ग्रियर्सन के इतिहास में इस कृति का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। शायद अन्य चरित काव्यों से भिन्न इस नायिका प्रमुख काव्य में महत् उद्देश्य, उल्लेख क्रिया व्यापार और विस्तृत आयाम तथा चित्रपटी के अभाव ने उन्हें आकर्षित-प्रभावित नहीं किया हो।

बीसलदेव रासो छंद वैविध्य रहित अल्प रूपक निबद्ध-परंपरा की रचना है। यह मात्रिक छंद में लिखा गया है। इसके एक ‘कड़वक’ में छः पंक्तियाँ हैं। पर यह ग्रंथ भयंकर छंद-संबंधी दोषों से भरा है। छंद की दृष्टि से इसका पाठ-संपादन अब तक नहीं हुआ है।

यह कृति अत्यंत गेय है। ‘बीसलदेव रासो’ केदारा राग में गाया गया है। डॉ. उदय नारायण तिवारी ने इसकी गीतात्मकता के प्रामुख्य को अवरेखित करते हुए एक बहुत युक्ति युक्त तथ्य कहा है कि “‘इस गेयता के कारण ही जनता के कंठ-स्वर में बहुत दिनों तक गूंजता रहा और

इसकी मौखिक परंपरा सुरक्षित रही।” यद्यपि मोतीलाल मेनारिया ने इसे गेय नहीं माना है तथापि डॉ. तारकनाथ अग्रवाल ने इसकी गीतात्मकता को तर्कों और तथ्यों से संपुष्ट किया है।

रास परंपरा की रचनाओं में प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और गुजराती के बीच जैन धर्म से मुक्त रूप में लिखित यह पहली रचना है।

‘बीसलदेव रासो’ लोककाव्य तत्त्व तथा स्थानीय रंगत (लोकल कलर) की विशेषताओं से परिपूर्ण है। इसमें पूर्वजन्म की मान्यता पोषित हुई है। राजमती का उड़ीसा में पूर्व जन्म में हरिणी होना और व्याध के वाण से आहत होकर जगन्नाथ मंदिर के समक्ष प्राण त्यागना पूर्व जन्म की स्मृति कथा का सुंदर लोक-दृष्टांत है। दूसरे, शकुन-विचार और ज्योतिष-विश्वास का लोकतत्त्व भी विवेच्य कृति में उभरा है, जहाँ राजमती ज्योतिषी से शकुन न बन सकने की बात बीसलदेव से कहने का आग्रह करती है और राजा चार महीनों तक अपनी प्रवास यात्रा स्थगित कर देता है। तीसरे, इस कृति में लोकमान्यता के अनुरूप दिव्य देने का भी उल्लेख हुआ है- ‘कठिन पयोहर दिव किया।’ ‘दिव्य’ देना एक प्रकार की तद्कालीन लोक परीक्षा थी, जिसके नौ प्रकार होते थे। इनमें एक प्रकार अग्नि परीक्षा का भी था। चौथे, प्रेम-परीक्षा की लौकिक परंपरा भी इस काव्य ग्रंथ में प्राप्त होती है। यह प्रेम-परीक्षा दोनों ही ओर होती है। राजमती से कुटिनी का ओछा प्रस्ताव और बीसलदेव से पट्ट महादेवी का वैवाहिक प्रस्ताव इसी परीक्षा के अंतर्गत द्रष्टव्य हैं। स्पष्टतः इसमें लोक-तत्त्व जीवंत है। स्थानीय रंगत की दृष्टि से चौक आदि पूरने की विधि तथा भाँवरों के समय दिये गये दहेज का सामाजिक वर्णन द्रष्टव्य है। छंद भी एकदम लोकगीतों का है।

विवेच्य ‘रासो’ शृंगार रस की प्रमुख कृति है। यद्यपि रौद्र, शांत और हास्य रस के छंद भी इस रचना में प्राप्त होते हैं। शृंगार में यहाँ विप्रलम्भ पक्ष प्रमुख है। राजमती के कटु शब्दों को सुनकर बीसलदेव के रुष्ट होते ही काव्य में विरह वर्णन का बीज निक्षिप्त हो जाता है। इसका ‘बारहमासा’ अत्यंत ललित है। यह कार्तिक मास से आरंभ होकर आश्विन में समाप्त होता है। इसमें प्रकृति उद्दीपन-विभाव

के रूप में चित्रित है। बड़ी बात यह है कि हिंदी में बारहमासे की परंपरा पहले-पहल यहीं परिलक्षित और आरंभ होती है। प्रवासोपरांत बीसलदेव से राजमती का मिलन-प्रसंग भी अत्यंत सरस है।

यह शृंगार रस पूर्ण कृति होने के साथ-साथ नीतिपरक या संदेशपरक रचना भी है। अपने समाज और युग के संदर्भ में इसका संदेश है कि यदि लाख रूपवती, गुणवती स्त्री भी बिना भली-भांति सोचे-समझे अपने पति से कोई अन्यथा बात कह देती है तो उसका सर्वस्व बिगड़ जाता है।

ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह अप्रामाणिक रचना है। इसकी कथा के पात्र मात्र ऐतिहासिक हैं। कृति में बीसलदेव और भोज को समकालीन माना गया है, जो इतिहास प्रसिद्ध है। ऐसे ही बीसलदेव और माघ की समकालिकता का उल्लेख भी भ्रांत है। विवेच्य रासो में भोज द्वारा जिन प्रदेशों के बीसलदेव के दहेज में दिये जाने की चर्चा हुई है, वे प्रदेश इतिहास के अनुसार भोज के अधीन नहीं थे। कृति में जैसलमेर और बूंदी के नाम आए हैं। ये नगर तब तक बसे भी नहीं थे। बीसलदेव के उड़ीसा जीतने का तथ्य भी इतिहास-पुष्ट नहीं है। चारो बीसलदेव में किसी ने भी उड़ीसा नहीं जीता। अंतिम असंगति बीसलदेव द्वारा अपने भ्रातृज को उत्तराधिकारी नियत करने में है। इतिहास बीसलदेव के बाद उनके पुत्र अमरगांगेय के राज्यासीन होने की सूचना देता है। इस प्रकार यह कल्पना की रम्य कृति है।

बीसलदेव रासो संपूर्णतः प्राचीन कृति नहीं है। 'जैसलमेर' और 'बूंदी' का स्थानोल्लेख इसकी प्राचीनता का खंडन करता है। इस कृति में 'मूंगफली' और 'गज' जैसे शब्दों के प्रयोग हुए हैं। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार 'मूंगफली' शब्द फिरंगियों के साथ आया है। इसकी खेती पहले पहल दक्षिण भारत में आरंभ हुई। 'गज' शब्द भी जो माप के लिए प्रयुक्त होता है, मुगल राजा के समय का है। अकबर का 'इलाही गज' प्रसिद्ध है। इस प्रकार बीसलदेव रासो की प्राचीनता संदिग्ध हो जाती है।

'बीसलदेव रासो' की नायिका जबान की तेज और मन की खरी है। यही उसकी अस्मिता है। पर कवि ने इस नारी चरित्र की सहानुभूति पूर्ण व्यंजना की है। नायक बीसलदेव

का धीरोदात्तत्व यहाँ वर्णित नहीं है। वह धीरललित रूप में प्रस्तुत हुआ है।

प्रस्तुत कृति विनोद और व्यंग्य की विशेषताओं से ओत-प्रोत है। नायिका राजमती पत्र लेकर बीसलदेव के पास जाने वाले पंडित को घी अधिक खाने के लिए कहती है, जिससे उसके पग स्फूर्तिवान हों और द्रुतगति से चल सके; किंतु पंडित कोस भर चलने पर ही अंगारों में सेंकी गई रोटियाँ खाने लगता है। उसे उदर-पूर्ति ही अधिक प्रिय हो जाती है। इसी प्रकार उड़ीसा का वर्णन करते हुए कवि विसंगति से विनोद-सृष्टि करता है। उसके अनुसार उड़ीसा में बैल की पूजा होती है और गाय हल में जोती जाती है। माँड़ हटा दिया जाता है और चावल रख लिया जाता है। इस रासो में शाणित व्यंग्य की क्षिप्रता भी दर्शय है। बीसलदेव के प्रवास से प्रत्यागत होने पर राजमती व्यंग्य करती हुई कहती है कि "हे स्वामी! तूने घी का तो व्यापार किया पर खाया तेल ही" - "स्वामी घी बिराजियउ नइ जीमियउ तेल!"

'बीसलदेव रास' रम्य सूक्तियों से भरी हुई काव्यकृति है। इसकी कुछ सूक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं-

1. *दवका दाधा हो कूपल लेइ।*

जीभ का दाधा न पाल्ह वइ॥49

अर्थात् दावाग्नि का जला किसलयित हो सकता है, किंतु जिह्वा का जला पल्लवित नहीं हो सकता।

2. *अरथ दरब गाड्या रहइ।*

जेह नइ सिरिजियउ तेहीज षाइ॥50

अर्थात् अर्थ और द्रव्य धरती में गड़ा रह जाता है किंतु जो इसका संचय करता है यह उसको खाता है। यही सूक्ति 'रश्मिरथी' की-'नरविभव हेतु ललचाता है, पर वही मनुज को खाता है'-जैसी पंक्तियों में भी अभिव्यक्ति हुई है।

3. *चांपीया तेजीय जउरे उस साइ।*

मृग रे चरंता मोहि जइ॥

सखि अंचलि बांधियउ नाह किउं जाइ॥52

अर्थात् 'ताजी' घोड़ा यदि बिगड़कर उसांसे भरने लगे तो उसको दाबा जा सकता है, चढ़ते हुए हरिण को मोहित किया जा सकता है किंतु हे सखि, नाथ को अंचल में किस प्रकार बांधा जा सकता है?

विवेच्य कृति में अलंकारों का चमत्कार भी है और कहीं-कहीं कवि-प्रसिद्धि भी। डॉ. इंद्र ने अपने शोध प्रबंध 'रीतिकाल के प्रमुख प्रबंध काव्य' में बीसलदेव रास को अलंकार के चमत्कार से शून्य कह दिया है जो एक असंगत और भ्रांत कथन है। नाल्ह के अलंकार प्रायः सादृश्यमूलक हैं। राजमती के साथ बैठे हुए बीसलदेव की उक्ति में रुक्मिणी के साथ बैठे कृष्ण की उत्प्रेक्षा, राजमती के अजमेर प्रस्थान के वर्णन में धार के दीपक के जाने की रूपकातिशयोक्ति इसके दृष्टांत हैं। सास द्वारा बहू के प्रति इस कथन में की 'बहू, घर में आओ, अन्यथा चंद्रमा के धोखे में तुम्हें राहु निगल लेगा' कवि-पिष्टोक्ति पुष्ट हुई है।

बीसलदेव की भाषा प्राचीन हिंदी का रूप है। इसमें राजस्थानी विभाषा का पुट है। यह डिंगल की रचना है, किंतु शुक्ल जी के अनुसार बीच-बीच में पिंगल को मिलाने के भी प्रयत्न दृष्टगत होते हैं। राजस्थानी-गुजराती के अपने प्रयोग 'सूकई छै', 'पाटण थि', 'भोज तणा', 'खंड खंडरा', आदि इसमें प्राप्त होते हैं। मोतीलाल मेनारिया का अनुमान है कि "मूलग्रंथ गुजराती में था जिस पर बाद में किसी ने राजस्थानी का रंग चढ़ाया है।" इसमें अरबी-फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हैं, जो शुक्ल जी के अनुसार या तो पीछे से मिलाये गये हो सकते हैं या कवि द्वारा स्वयं व्यवहृत। इस ग्रंथ में सर्वत्र वर्तमानकालिक क्रिया के प्रयोग हुए हैं। यह एक ओर यदि नाल्ह को बीसलदेव का समकालीन होना सिद्ध करता है तो दूसरी ओर काव्य रचना की विशेष शैली के रूप में भी उपस्थित होता है। डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार "बीसलदेव रास का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिंदी का ग्रंथ कहने में किसी प्रकार आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

रास में इतनी विशेषताओं के बाद भी काव्यत्व का दुर्बल पक्ष यत्र-तत्र विद्यमान है। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने इस कृति की दुर्बलता से संबद्ध पाँच आरोप किए हैं-

1. अत्यंत सामान्य एवं क्रमहीन शैली में घटना का वर्णन किया गया है।

2. उलझे हुए अस्पष्ट संवाद मिलते हैं।

3. यत्र-तत्र नीरस चित्रण जो कहीं-कहीं अत्यंत भोड़ा हो गया है।

4. बीसलदेव के प्रवास-पूर्व दंपति की वार्ता में राजमती की वार्ता का हल्का स्तर जिसमें राजा के लिए 'मूढ़', 'गँवार' जैसे शब्द प्रयोग खटकते हैं।

5. कई स्थलों पर 'बेटी राजा भोज' की चिप्पी लगी हुई है।

पर ये सारे आरोप कृति में कहीं-कहीं ही लागू होते हैं, सर्वत्र नहीं।

बीसलदेव रास गणेश के मंगलाचरण से आरंभ होता है और कल्याण कर भरत-वाक्य से समाप्त होता है। उसकी अंतिम पंक्ति में-

'जिउं राजा राणी सुं मिल्या। तिम एण संसार मिलिज्यो सहु कोई।' में कथारस, आदिम कथारस की अनुभूति होती है। हाँ, यदि आज के स्त्री-विमर्श की दृष्टि से देखें तो हमें पितृसत्ताक समाज ही देखने को मिलता है।

वस्तुतः 'बीसलदेव रास' पूरे आदिकाल में अकेले चमकने वाले उस दूरवर्ती तारक-नक्षत्र की भांति है, जो अपने आलोक और स्थान में अन्य प्रखर नक्षत्रों से सर्वथा विलग होकर भी सरल कोमलता में प्रायः सम्मोहक दीखता है। इसलिए यद्यपि 'बीसलदेव रास' एक सामान्य कवि की सामान्य काव्यकृति है तथापि अपनी निश्छल सरलता, संपूर्ण तदकालीनता, नारी जीवन के प्रति उदारता- उसके पति वियोग की अभाव भरी बारहमासी रुदनशीलता और फिर हर्षोत्फुल्ल सुख-संयोगमयता को चित्रित-बिम्बित करने वाली यह कृति छंद, अलंकरण, राग, संगीत, भाषा आदि विविध दृष्टियों से कला की मितव्ययिता एवं गहन लोकमंचीयता को प्रस्तुत करती हुई अपने वर्ण्य को साहित्येतिहास के परिप्रेक्ष्य की व्यापकता में भी पूर्णतः सार्थक बनाती है।

संपर्क: 'साँई कृपा', 58, लाल एवेन्यू, डाकघर-रेयॉन ऍंड सिल्क मिल
अमृतसर- 143005 (पंजाब) मो. 09878647468

आदिकाल और राक्षो काव्य

डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र

भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग

नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल को 'वीरगाथा काल' कहा। उनके बाद आने वाले विद्वान आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसे अमान्य कर उसे 'आदिकाल' कहना अधिक उचित माना। आज सभी विद्वानों ने इस नाम को स्वीकार कर लिया है। यह नाम हिंदी साहित्य के प्रारंभ की भाषा, भाव, विचारणा, शिल्पभेद आदि से संबंधित उलझनों को सुलझाने में मदद करता है। इसमें हिंदी भाषा का आदि रूप मिलता है। इसमें भक्तिकाल से आधुनिककाल तक की सभी प्रवृत्तियों के आदिम बीज खोजे जा सकते हैं। बाद में प्रयुक्त होने वाली रचना शैलियों के आदिम रूप भी यहाँ वर्तमान हैं। आध्यात्मिक, श्रृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियाँ इस काल में प्रमुख हैं। इनका विकसित रूप हमें परवर्तीकाल में दृष्टिगोचर होता है। इतिहासकारों ने आदिकाल की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। हम संक्षेप में उसे कहना चाहेंगे। आदिकाल की अवधि 769 से 1418 ई. तक है। अंतिम हिंदू सम्राट हर्षवर्धन के समय से ही उत्तरी भारत पर यवनों के आक्रमण प्रारंभ हो गये थे। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद राजपूत राज्य संगठित न हो सके। परस्पर युद्ध करते हुए अन्ततः वे विशाल इस्लाम साम्राज्य के सुरसा मुख में समा गए। यवन आक्रमण का प्रभाव मुख्यतः पश्चिम और मध्यदेश में पड़ रहा था। हिंदी भाषा इसी क्षेत्र में विकसित हो रही थी। इस काल के समस्त साहित्य पर आक्रमण और युद्ध द्वारा निर्मित मानसिकता का प्रभाव है। ये मनःस्थितियाँ तीन प्रकार की थीं— आध्यात्मिकता की ओर झुकाव, जीवन रस का अबाध भोग, शौर्य के साथ प्राणोत्सर्ग। धार्मिक क्षेत्र में तंत्र-मंत्र, जादू-टोने आदि का प्रभाव पड़ रहा था। व्यभिचार, आडंबर, अर्थलोभ आदि बौद्ध विहारों के दोष हिंदू मंदिरों में भी आ गए थे। जनता दिग्भ्रमित थी। उसे ठगा जाता था। जाँति-पाँति के बंधन कड़े हो रहे थे। उच्च वर्ग के लोग भोग करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। निम्न वर्ण के लोग मानो श्रम करने के लिए ही पैदा हुए थे। नारी भोग्या मात्र थी। उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास की बात सोची भी न जा सकती थी। साहित्य और शास्त्र से सामान्य जनता बहुत दूर थी। हिंदी साहित्य के आदिकाल के प्रारंभ के समय भारतीय संस्कृति अपने सर्वोच्च शिखर पर थी। सारे प्राचीन मंदिर इस काल में ही बनाए गए। उनकी स्थापत्य-कला आज भी विश्व को आश्चर्यचकित करती है। यवनों के आगमन के बाद भारतीय संस्कृति पर इस्लामी रंग चढ़ने लगा। भक्तिकाल आते-आते मुस्लिम संस्कृति अपने चरम पर पहुँच गयी थी।

इस काल में साहित्य-रचना की तीन धाराएँ प्रवहमान थीं— संस्कृत साहित्य की धारा, प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा साहित्य, हिंदी भाषा में लिखा जा रहा साहित्य। संस्कृत साहित्य को राज्याश्रय प्राप्त था। अपभ्रंश धर्म की भाषा बन गई थी। केवल हिंदी ही ऐसी भाषा थी जो

जनता की मानसिक स्थितियों एवं भावनाओं को वहन कर रही थी।

अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिंदी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं- खुमाण रासो, ढोला-मारू रा दूहा, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, जयचंद-प्रकाश, जयमयंक-जसचंद्रिका, चंदन वाला रास, स्थूलभद्ररास, रेवन्तगिरिरास, नेमिनाथ रास, वसना-विलास, खुसरो की पहेलिया। रासो और रास नामों वाली सभी पुस्तकें रासो-साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं की जा सकती। वे ही रचनाएँ रासो-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं, जिनमें राजाओं की ऐतिहासिक वीरगाथाएँ मिलती हैं। हम्मीर रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो तथा पृथ्वीराज रासो इस वर्ग में आने वाली रचनाएँ हैं। 'हम्मीर रासो' अभी तक उपलब्ध नहीं है। 'प्राकृत-पेंगलम्' में उसके केवल आठ छंद मिलते हैं।

'रासो' का अर्थ :- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'रसायण' से रासो बना- 'बीसलदेव रासो' में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आता है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसका संबंध नाट्य उपरूपक 'रासक' से जोड़ते हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान् कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। 'रास' एक लोकनाट्य है जिसमें गीत और नाट्य का संगम होता है। ब्रजमंडल की रास-लीला इसी लोक-नाट्य का विकसित रूप है।

विषय-वस्तु :- रासो काव्य में सामंतों और राजाओं के शौर्य और विलास का अतिरंजित वर्णन रहता है। शौर्य और विलास अन्योन्याश्रित हैं। किसी सुंदरी को प्राप्त करने के लिए युद्ध करना और उसकी प्राप्ति के बाद विलास-क्रीड़ा में आकंठ निमग्न हो जाना। सामंतों की जीवन-पद्धति इसी प्रकार की रहा करती थी।

आदिकाल के निर्जल मरुस्थल में काव्य-रस की हरियाली कहीं है तो रासो काव्य में, जहाँ मानवीय संवेदनाओं से जुड़े प्रेम के संयोग-वियोग पक्ष एवं शौर्य-वर्णन विषय-वस्तु के रूप में हैं। विवेचकों एवं समीक्षकों ने इन्हें अप्रामाणिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों की भूलों की भरमार से युक्त कहकर उनके महत्त्व को कम करने की कोशिश की है। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि रासो गेय काव्य थे। स्मृति और कंठ

में उनका वास था। यही कारण है कि समय के साथ-साथ उनका स्वरूप बदलता गया। उनमें प्रक्षिप्त अंशों की भरमार होने लगी। यह बात भक्त कवियों की रचनाओं पर भी लागू होती है। अब रहा सवाल ऐतिहासिक तथ्यों से संगति न बैठने का। सर्वप्रथम तो इतिहास लिखने की परंपरा तब हमारे देश में विकसित नहीं हुई थी और न इन कवियों का उद्देश्य इतिहास लिखना था। वे अपने चरित नायक के शौर्य का अतिरंजित वर्णन करते थे। यह प्रवृत्ति आगे जायसी और तुलसीदास में भी मिलती है। रासो-काव्य का मूल्यांकन इतिहास के आधार पर करना अनुचित है।

खुमाण रासो :- आचार्य रामचंद्र शुक्ल इसे नवीं शताब्दी की रचना मानते हैं, क्योंकि इसमें नवीं सदी के चित्तौड़-नरेश खुमाण के युद्धों का वर्णन है। कुछ लोग इसे सत्रहवीं सदी की रचना मानते हैं। इसका रचयिता खुमाण नरेश के समकालीन दलपत विजय को माना जाता है, जबकि वृत्त संग्रहकर्ताओं की राय में इसकी रचना सत्रहवीं सदी के दलपत विजय नामक जैन साधू ने की। कृति की रचना-शैली तथा विषय-वस्तु इस स्थापना का समर्थन नहीं करते। यदि इसे किसी जैन साधू ने लिखा होता तो इसमें धर्म-भावना किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहती। कहा जाता है कि पाँच हजार छंदों के इस विशाल काव्य-ग्रंथ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में सुरक्षित है। राजाओं की प्रशंसा करना इस काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। इसमें नायिका भेद षट्क्रतु वर्णन आदि के प्रसंग हैं। इसमें वीर एवं श्रृंगार रस की प्रधानता है। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है-

पिउ चितोड़ न आविऊ सावण पहिली तीज।

जोवै बाट बिरहिणी, खिण-खिण आखै खीज।।

संदेसो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।

पंछी घाल्या पिंजरे, छूटण रो संदेह।।

प्राचीन काल में लिपिकर्ता ग्रंथों की प्रतिलिपि तैयार करते थे, अतएव भाषा का रूप परिवर्तित हो जाया करता था। इस काव्य-ग्रंथ के साथ भी ऐसा हुआ है।

बीसलदेव रासो :- बीसलदेव रासो एक विरह गीत-काव्य है, जिसके रचयिता है नरपति नाल्ह। इसमें

वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग है जिससे आभास होता है कि इसका रचयिता बीसलदेव का समकालीन था। इस बात की भी संभावना है कि वह उनका राजकवि हो। इस रासो का रचना काल शुक्ल जी के अनुसार 1212 वि. हैं। द्विवेदी जी इससे सहमत हैं लेकिन मोतीलाल मेनारिया इसे 1546-60 वि. के आसपास मानते हैं। भाषा के आधार पर इसका रचनाकाल तय नहीं किया जा सकता क्योंकि मौखिक रूप से गाये जाने के कारण इसकी भाषा में निरंतर परिवर्तन घटित होते रहे होंगे।

प्रश्न है कि रासो में किस विग्रहराज का उल्लेख हुआ है— चतुर्थ या तृतीय? शुक्ल जी विग्रहराज चतुर्थ को बीसलदेव मानते हैं और स्वयं इस तथ्य को खारिज कर देते हैं। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज चतुर्थ बड़े वीर और प्रतापी थे। पर नाल्हा के इस 'बीसलदेव रासो' में जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाईयों का वर्णन है, न उसके शौर्य पराक्रम का। श्रृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रेषित पतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है।' शुक्ल जी की इस आपत्ति के बाद बीसलदेव विग्रहराज तृतीय को माना जाता है। वह चतुर्थ के समान शूरवीर नहीं था लेकिन विलासी था। ऐसे राजा पर श्रृंगारिक रासो लिखा जा सकता है।

इस रासो में कुल चार खंड हैं। पहले खंड में बीसलदेव-राजमती के विवाह का वर्णन है। राजमती मालवा के भोज परिवार की पुत्री है। दूसरे खंड में राजमती से रूठकर रत्न लाने के लिए बीसलदेव उड़ीसा के लिए प्रस्थान करता है। तीसरे खंड में राजमती का विरह वर्णित है। चौथे खंड में भोजराज अपनी पुत्री को मालवा ले जाता है। बीसलदेव उड़ीसा से लौटकर अपनी पत्नी को घर ले आता है। इस रासो में लोक तत्त्वों का समावेश है। 'मेघदूत' और 'संदेश रासक' की संदेश परंपरा भी इसमें है। राजमती एक पंडित को अपना दूत बनाकर पति के पास संदेश भिजवाती है। पति लौट आता है तो श्रृंगार कर वह उससे मिलती है। कवि ने संयोग-वियोग दोनों के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। दोनों के विछोह का कारण सामंती अहं है। राजा की

गर्वोक्ति है कि वह सबसे धनी है। राजमती उड़ीसा के राजा को सबसे धनी बताती है। उसकी खान से हीरे-पन्ने निकलते हैं। इस बात से राजा रूठकर हीरे-जवाहरात लाने उड़ीसा चला जाता है। राजमती के निम्नलिखित कथन में नारी की स्थिति प्रकट होती है—

अस्त्रीय जनम काइ दीघउ महिस

अवर जनम थारइ घणा रे नरेश

रानि न सिरजीय रोकड़ी

घणह न सिरजीव धउलीस गाइ।

नभखंड काली कोइली

हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल

भषती दाष बिजोरडी।

(हे शंकर भगवान तुमने मुझे स्त्री क्यों बनाया? और भी तो कुछ बना सकते थे— जंगली जंतु, गाय, बनखंडी की काली कोयल। यदि मैं काली कोयल होती तो स्वछंदतापूर्वक चंपा की डाल पर बैठती, अंगूर और बिजौरी खाती।) कवि नारी की परतंत्रता की ओर इशारा कर रहा है। वह जाटनी बनाया जाना भी पसंद करती ताकि वह पति के संग संग कृषि-कार्य करते हुए सदैव उनका सान्निध्य सुख पाती। राजमती की यह आकांक्षा सामंत कौलीन्य की परतंत्रता से मुक्ति की आकांक्षा है।

इस रासो को सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध किया गया। गेय होने के कारण इसकी भाषा में परिवर्तन होते गए। विद्वानों के अनुसार हिंदी भाषा का उदय परसगों के साथ होता है। इसमें परसगों का प्रयोग हुआ है। विशेषज्ञों के अनुसार इसकी भाषा पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं हो सकती। इसमें विभक्तियों का भी प्रयोग हुआ है।

विभक्तियों के उदाहरण :- गोरड़ी जोगिनउ, कंचउ हस्ते, दिठि, अजमेरी, देसि आदि।

परसगों के उदाहरण :- उलगाणा की, मनमाहे, स्वामीसिउ, हेघण आदि। परवर्ती अपभ्रंश के समान इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है— यथा— मंदिर, सुंदरी, अंग, अमृत, पक्ष, कुवचन, कलंक, वेदना, नवल, मृगलोचनी, हस्ती, लंबोदर आदि।

तद्भव शब्द :- बाँगड़, पंडिया, सबद, जोगी।

देशज शब्द :- डावड़ी, पाहिल्या, करइ, बैल, आसपि,

कुलड़।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बीसलदेव रासो की पांडुलिपि की भाषा आधुनिक आर्यभाषाओं के आविर्भाव के किंचित पूर्व की है।

पृथ्वीराज रासो:- चन्दबरदाई (1126-1196 ई.) कृत 'पृथ्वीराज रासो' आदिकाल का महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रंथ है। इसकी प्रामाणिकता के बारे में पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ लिखा गया है। उन तर्कों की पुनरावृत्ति करना हमें अभीष्ट नहीं है। गेय रचनाओं की भाषा में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं और उनमें क्षेपक भी जुड़ते जाते हैं, यह बात हम प्रारंभ में ही कह आए हैं। शुक्ल जी चन्दबरदाई को दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान का मित्र, सामंत एवं राजकवि मानते हैं। महाराज और चन्द का जन्म एक ही दिन हुआ था और मृत्यु भी एक ही दिन हुई थी। मोहम्मद गोरी पृथ्वीराज को पराजित कर बंदी बनाकर अपने साथ ले गया। चन्द भी उनके साथ गया था। रासो को पूर्ण करने का कार्य उसने अपने पुत्र जल्ल को सौंपा- "पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।" पुत्र ने अपने पिता के अधूरे महाकाव्य को पूर्ण किया था-

रघुनाथ चरित हनुमना कृत, भूप भेज उद्धरिय जिनि।

प्राथिराज सुयश कविचन्द कृत, चन्द नन्द उद्धरिय तिमि।

प्रतिभाशाली, दूरदर्शी चन्द पृथ्वीराज का विश्वासपात्र था। उसने स्वामी के हित में अपना बलिदान किया था। पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण उपलब्ध हैं। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित संस्करण सबसे बड़ा है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। मुनि जिनविजय ने पुरातन प्रबंध संग्रह में संकलित चन्दकृत चार छप्ययों को उद्धृत करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि रासो की भाषा अपभ्रंश थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे मान्य किया है। उन्होंने एक रासो का संपादन किया है जिसे वे मूल रासो के बहुत करीब मानते हैं। आश्चर्य की बात है कि एक ओर तो शुक्ल जी इसे अप्रामाणिक मानते हैं, दूसरी ओर उसे आदिकाल में स्थान भी देते हैं। सभी विद्वान इसके काव्य-सौंदर्य से प्रभावित हैं। डॉ. बच्चन सिंह के अनुसार, 'यह न शृंगारगाथा है, न वीरगाथा और न उसका मिश्रण। दूसरे शब्दों में राजनीति

की महाकाव्यात्मक त्रासदी है।'।

रासो का केन्द्रीय कार्य विषय युद्ध है। युद्ध का विलास से गहरा संबंध है क्योंकि युद्ध और विलास सामंती जीवन के अनिवार्य अंग हैं। पृथ्वीराज चौहान की विलासिता पत्नियों के प्रतिसीमित है। उनकी तीन पत्नियाँ हैं- इच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता। संयोगिता जैसी सुंदरी नयी रानी को पाकर वह राजकाज सब भूल गया है। मुहम्मद गोरी का आक्रमण हो गया है। महाजनों के समक्ष समस्या है कि राजा को कैसे सूचित किया जाय- 'किम बुज्जे रतिवंती राजन!' चन्द के रासो में वीर और शृंगार दोनों रसों का संगम है। कवि ने बड़ी तन्मयता के साथ नगरों, वनों, सरोवरों, किलों आदि का वर्णन किया है। युद्ध क्षेत्र के दृश्यों के वर्णन में चंद की अद्भुत प्रतिभा के दर्शन होते हैं:-

बज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहूँ दिसि।

सकल सूर सामंत समर बल जंत्र मंत्र तिसि।

उट्टि राज प्रथिराज बाग लगा मनहु वीर नट।

कढ़त तेग मन वेग लगत मनहु बीजु झट्ट घट्ट।।

नारी के रूप राशि का चित्र भी अद्वितीय है-

मनहु कला ससिगान कला सोलह सो नन्निय।

बाल बैस ससिता समीप अमृत रस पिन्निय।

बिगसि कमल स्त्रि भ्रमर नैनु खंजन भ्रिग लुट्टिय।

हीर कीर अरुबिम्ब मोती नखसिख अहि घुट्टिय।

रासो की भाषा ब्रजमिश्रित राजस्थानी है। इसमें अपभ्रंश और अवहट्ट का भी प्रभाव है। एक ही शब्द कई रूपों में लिखे गए हैं जैसे 'शैल' के लिए सैल, सराल, सइल, 'एक' के लिए इक, इकह, इकि। भाटों की विभिन्न पीढ़ियों द्वारा गाए जाने से भाषागत अवस्था पैदा हुई है। गोरी के बंदीगृह में पृथ्वीराज अपने विगत जीवन की भूलों को याद कर पश्चाताप करता है- सामंत कन्ह ने भीमदेव चालुक्य के भाई का सिर जरा सी भूल के कारण धड़ से अलग कर दिया। सम्राट ने इस अपराध के लिए उसे हल्की सजा दी और भीमदेव की शत्रुता मोल ली। अपने योग्य मंत्री कयमास का वध कर दिया क्योंकि वह एक करनाटी दासी पर अनुरक्त था। राजकाज में संतुलित दृष्टि का अभाव तथा निर्णय लेने में मनमौजीपन ये दोनों ही अन्तः घातक सिद्ध होते हैं। तभी तो चन्द ने लिखा है-

राजनीति पाइयै। ग्यान पाइयै यु जानिय।।

उकति जुगुति पाइयै। अरथ घटि बढि उनमानिय।

रासो में प्रायः सभी अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। लगभग अड़सठ प्रकार के छंदों में लिखा गया यह महाकाव्य आदिकाल की महत्त्वपूर्ण कृति है।

परमाल रासो (आल्ह खंड):- 'परमाल रासो' का रचयिता जगनिक नामक कवि माना जाता है, जो महोबा के राजा परमार्दिदेव का आश्रित था। उत्तर प्रदेश के बैसवाड़ा, पूर्वांचल तथा मध्यप्रदेश के बुंदेलखंड में पीढ़ी-दर-पीढ़ी गाया जाने वाला आल्हा इस रासो से संबंधित माना जाता है। कुछ उसे उसका एक अंश मानते हैं तो कुछ उसे 'परमाल रासो' का विकसित रूप मानते हैं। सन् 1865 ई. में चार्ल्स इलियट ने चारणों की सहायता से इसे लिपिबद्ध करवाया था। इसका अंग्रेजी में अनुवाद करने वाले वाटरफील्ड की मान्यता है कि यह पृथ्वीराज रासो का एक खंड है। ग्रियर्सन ने वाटरफील्ड के इस मत का खंडन किया है। आल्ह खंड महोबा नरेश परमाल तथा उनके सामंत द्वय आल्हा-ऊदल की वीरता की कहानी सुनाता है। पृथ्वीराज रासो एवं आल्ह खंड में बुनियादी अंतर है। एक महाकाव्य है तो दूसरा गेय रचना। वस्तुतः वह 'परमाल रासो' का ही खंड हो सकता है।

'आल्हखंड' में कुल बावन युद्धों का वर्णन है। विवाह, प्रतिशोध की भावना और लूट इन तीन कारणों से युद्ध होते हैं। डॉ. बच्चन सिंह ने दोनों रचनाओं में वर्णित विवाहों के मौलिक अंतर को रेखांकित किया है- 'रासो के विवाहों के मौलिक में अनुराग का भी रंग है किंतु आल्हखंड में विवाह युद्ध का निमित्त है।' इसमें रूपाशक्ति और विलास के

रंगीन चित्रों का अभाव है। श्रृंगारिक वर्णन भी बिल्कुल नहीं है। कवि ने परमाल पक्ष को पांडवों का अवतार तो विपक्ष को कौरवों का अवतार कहा है। सभी किसी न किसी देवी-देवता के वरदान से लैस हैं। युद्ध में अस्त्र शस्त्र ही नहीं जादू-टोने का भी प्रयोग होता है। जादू का काम स्त्रियों के जिम्मे है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस काव्यकृति का लोकजीवन से गहरा जुड़ाव है।

विवाह मंडप युद्ध-भूमि बन जाता है-

'आधे मड़ए भावरि घूमै आदो झूमि चलै तरवारि'

प्राणों की चिंता किए बिना युद्ध में शौर्य दिखाना यही क्षत्रिय का आदर्श था-

बारह बरिस लै कूकर जीएँ, और तेरह लै जिए सियार।

बरस अठारह छत्री जीएँ आगे जीवन को धिक्कार।।

'आल्ह-खंड' में 'पृथ्वीराज रासो' की तरह नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। छल-कपट, धोखाधड़ी का आचरण सर्वत्र है। नैतिकता के बदले कार्यसिद्धि को महत्त्व दिया गया है।

इसकी भाषा से स्पष्ट है कि इसका अपभ्रंश या अवहट्ट से कोई संबंध नहीं है। अठारहवीं शताब्दी की रचना है। अनुमान है कि लोक प्रचलित आल्हा-ऊदल की शौर्य गाथाओं को किसी भाट ने छंदोबद्ध कर दिया। आषाढ़ मास में आज भी आल्हा के गायक (अल्हैत) इसके वीर रस से श्रोतओं में जोश और उत्साह भर देते हैं।

रासो काव्य हिंदी साहित्य के आदिकाल की बहुमूल्य धरोहर हैं। अप्रामाणिकता एवं क्षेपकों के मिश्रण से उनका महत्त्व कम नहीं होता। रासो-काव्य में 'पृथ्वीराज रासो' अग्र स्थान का अधिकारी है।

संपर्क:

46, पठान ले-आऊट, रिंग रोड,
नागपुर-440022, मो. 09422148067

उत्तर आधुनिकता क्या है?

रवि श्रीवास्तव

भूतपूर्व आचार्य, हिंदी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

अनस्ट मैडल ने अपनी पुस्तक 'लेट कैपिटलिज्म' में प्रौद्योगिकीय विकास की तीन निर्णायक मंजिलों का उल्लेख करते हुए उन्हें पूँजीवाद के जन्म से लेकर आज तक के विकास के अलग-अलग तीन चरणों से जोड़ा है। पहला, 1848 से 1890 के बीच वाष्पचालित यंत्रों द्वारा उत्पादन। दूसरा, 1890 से 1940 के बीच विद्युत दाह्य संयंत्रों द्वारा उत्पादन। तीसरा 1940 से अब तक आणविक शक्ति द्वारा उत्पादन। प्रौद्योगिकीय विकास के ये तीन निर्णायक मोड़ हैं जिसे उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली ने 18वीं सदी की औद्योगिक क्रांति के बाद अब तक जन्म दिया है। मैडल की दृष्टि में प्रौद्योगिकी की तीनों मंजिलें क्रमशः स्वयं पूँजी के विकास के तीन महत्वपूर्ण दौरों की ओर इशारा करती हैं। औद्योगिक पूँजी, महाजनी पूँजी और आज के बहुराष्ट्रीय निगमों वाली वित्त पूँजी जिसे अर्थशास्त्री पॉल स्वीजी 'मार्डन कैपिटलिज्म एंड एसेज' नामक पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीयवित्त पूँजी- 'इंटरनेशनल फाइनेंस कैपिटल' कहना पसंद करते हैं। आज जिसे उत्तरआधुनिकता अथवा उत्तर आधुनिक समाज कहते हैं वह पूँजी और प्रौद्योगिकी के संयुक्त विकास का तीसरा चरण यानि बहुराष्ट्रीय निगमों वाला पूँजीवाद है जिसे मैडल पूँजीवाद का विशुद्ध रूप कहते हैं जो पूर्व औद्योगिक समाजों के प्रायः सभी रूपों को ध्वस्त कर उन्हें अतीत का शोक-गीत बना देता है। उसकी विशेषता है मशीनी बंदूकों एवं कारों का भव्य उत्सवीकरण '...ए ग्रैंड सेलिब्रेशन ऑफ मशीन गन्स एंड कार्स'। यानि युद्ध और उपभोक्तावाद आपस में नत्थी हैं, ऐसा अमेरिकी अर्थशास्त्री अनस्ट मैडल भी स्वीकार करते हैं।

उल्लेखनीय है कि पूँजी और प्रौद्योगिकी के संयुक्त विकास का हर अगला कदम पिछले का स्वाभाविक विकास है। इसलिए फेडरिक जेम्सन अपनी पुस्तक 'उत्तरआधुनिकतावाद या वृद्ध पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क' - पोस्टमार्डर्निज्म ऑर द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म' में बताते हैं कि 'विचार और संस्कृति की दुनिया में उत्तर आधुनिकतावादी सोच एवं व्यवहार का हर हस्तक्षेप प्रत्यक्ष या परोक्ष हर स्थिति में अपरिहार्यतः बहुराष्ट्रीय निगमों वाले पूँजीवाद के प्रति एक खास राजनीतिक रूझान को ही इंगित करता है।'

उत्तरआधुनिकता महज एक वाद, विचारधारा, चिंतन का तरीका या विशिष्ट जीवन-शैली नहीं है। उसका अपना राजनीतिक अर्थशास्त्र है। ऑक्टोपस जैसे इस राजनीतिक अर्थशास्त्र की सबसे मजबूत भुजाएँ हैं पूँजी का विश्व व्यापी संचरण एवं विस्तार तथा विज्ञान-प्रौद्योगिकी एवं संचार प्रणाली। आज जिसे प्रायः उपभोक्तावादी समाज, मीडिया सोसाइटी, सूचना-क्रांति, कम्प्यूटर युग या उत्तरऔद्योगिक समाज कहते हैं, ये सभी उसी ओर संकेत करते हैं। ये सभी

धारणाएँ अपने स्पष्ट विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के कारण शास्त्रीय पूँजीवाद के आदर्शों एवं नवजागरणकालीन मूल्यों और प्रतिबद्धताओं तथा वर्गसंघर्ष एवं मार्क्सवाद की सार्वजनीनता जैसे मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की आधारभूत संकल्पनाओं के विरोध एवं विकल्प में खड़ी होती हैं। आज जिसे विश्वग्राम, भूमंडलीकरण- वैश्वीकरण, इतिहास की मृत्यु महावृत्तांतों की समाप्ति, समाजवाद की मृत्यु, राष्ट्र राज्य की आधुनिक संकल्पना की काल्पनिकता, लेखक का अंत आदि को उत्तरआधुनिकता का गुणधर्म कहते हैं वह वस्तुतः उन सबसे कहीं अधिक महत्वपूर्ण सच्चाई की ओर इंगित करते हैं क्योंकि राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र या समाजशास्त्र की दुनिया में जन्म लेने वाला कोई भी मतवाद जैसा कि डॉ. रणधीर सिंह बताते हैं अपने जन्म की आकस्मिकता से कहीं अधिक किसी अन्य सच्चाई को ही उजागर करता है।

उत्तरआधुनिकतावाद और उत्तर औद्योगिक समाज संबंधी मंडल के विचार लेनिन के पूँजीवाद की क्लासिकल श्रेणीबद्धता का सिद्धांत 'साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की उच्चतम मंजिल' में मेल न होने के बावजूद आज के वृहदाकार बहुराष्ट्रीय निगमों वाले पूँजीवाद के विशुद्धतम चरित्र को पहचानने में मदद करता है जो उन क्षेत्रों में भी तेजी से पसरा है जो अब तक प्रायः अछूते थे अथवा जिनका अब तक पूरी तरह से पूँजीवादीकरण होना शेष था। मसलन, मानवीय रिश्ते, स्त्री-पुरुष का संबंध, शिक्षा एवं संस्कृति का क्षेत्र आदि।

मंडल जिसे 'लेटकैपिटलिज्म' वृद्ध पूँजीवाद कहते हैं, यानी बहुराष्ट्रीय निगमों वाला विशुद्ध पूँजीवाद- उसकी आधारभूत नयी प्रौद्योगिकीय पूर्वापेक्षाएँ द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद सुलभ हुई। युद्धोत्तरकाल में अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में आये परिवर्तन और सुधार, उपनिवेशों की आजादी तथा नयी अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए वैश्विक स्तर पर चलने वाले कूटनीतिक प्रयास के साथ पूँजी के नवनिर्माण एवं नयी प्रौद्योगिकी के विकास ने उत्तरआधुनिकता की नींव डाली। विश्वबैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्वव्यापार संगठन जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ केंद्र में आयीं।

फेडरिक जेमसन ने पिछली सदी के छठे दशक में हुए व्यापक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक बदलावों को

उत्तरआधुनिकतावादी सोच और व्यवहार की पूर्वपीठिका कहा है। युद्धोत्तरकाल जिसे पूँजीवाद का स्वर्णकाल कहा जाता है में उपभोक्ता सामग्री के अल्प उत्पादन एवं प्रौद्योगिकीय संकट को दूर करने के लिए विचारधारा और इतिहास की नहीं पूँजी और प्रौद्योगिकी की जरूरत थी। यह शीत युद्ध का दौर था जिसने वर्ग संघर्ष एवं विचारधाराओं की समाप्ति और उनके अनुपयोगी हो जाने के साथ उनके बचे-खुचे प्रभावों को भी योरोपीय जनमानस से प्रायः धो डाला। खुश्चेव के 'शांतिपूर्ण सहअस्तित्व' वाली संशोधनवाली नीति ने उस पर अनुमोदन की मुहर लगा दी जिस पर प्रसन्नता जताते हुए अमेरिकी राष्ट्रपति केनेडी की प्रतिक्रिया थी कि जो काम अमेरिकी लड़ाकू एवं बमवर्षक विमान नहीं कर पाये उसे खुश्चेव ने चुटकी में कर दिखाया। आज की तारीख में वे अमेरिका के सच्चे मित्र हैं।

इसी बीच 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' की स्थापना हुई। 1955 के सितंबर में इटली के मिलान शहर में उसकी पहली बैठक हुई। उसमें पश्चिम के प्रतिनिधि पूँजीवादी बुद्धिजीवियों की सभा में कुछ प्रस्ताव पारित हुए। इस गोष्ठी में अमेरिकी समाजशास्त्री आर्थर एम. श्लेसिंगर, डेनियल बेल, सिडनी हुक, ब्रिटेन के लेबर पार्टी के नेता हफ गेटस्केल फ्रांसीसी समाजशास्त्री रैमों एरां आदि ने हिस्सा लिया। उस गोष्ठी में प्रायः सभी बुद्धिजीवियों ने एक मत से वादों, विचारधाराओं एवं सिद्धांतों की जमकर मुखालफत की। रैमों एरां ने सिद्धांतों और विचारधाराओं को बुद्धिजीवियों के लिए अफीम बताया। 1970 के विश्व समाजशास्त्रीय सम्मेलन 'वर्ल्ड सोशियोलॉजिकल कांफ्रेंस' में डेनियल बेल ने अपने पत्र 'पोस्ट इंडस्ट्रियल सोसाइटी: टेक्नालॉजी एंड पालिटिक्स' में अपनी पुरानी मान्यताओं - विचारधारा और सिद्धांत की समाप्ति को फिर दोहराया। साथ ही 'मैनेजेरियल सोसाइटी' की संकल्पना रखी जिसमें प्रौद्योगिकविद् एवं प्रबंधन तकनीक में महारत रखने वाले समाज को चलायेंगे। उस समाज में राजनीतिक दलों, मजदूर संघों एवं शासन करने वाले राजनेताओं की भी कोई जरूरत नहीं होगी। उनका उद्देश्य साम्यवाद, मार्क्सवाद, वामपंथी मजदूर-आंदोलन के साथ तत्कालीन सोवियत संघ एवं पूर्वी योरोप के देशों में समाजवाद का विरोध

करना था।

अमेरिकी रेडिकल चिंतक चॉम्स्की ने अपने एक साक्षात्कार में कहा “जैसे मछली अपने जीवन के लिए पानी की अनिवार्यता से अनजान होती है वैसे ही वे भी इस बात से अनभिज्ञ थे कि विचारधारा का विरोध करते हुए वे एक विशिष्ट विचारधारा के निर्माण में योगदान दे रहे थे। वह वस्तुतः विचारधाराओं की मृत्यु का नहीं, जन्म का समय था।” अमेरिकी सी. राइट मिल्स ने कहा, ‘इतिहास के कुछ नितांत असभ्य एवं अनुशासनहीन अधिकारवादियों ने अब मानवनिमित्त, भाग्य एवं भविष्य को सुधारकर सभ्य एवं अनुशासित बनाने का जिम्मा ले लिया है।’ (द मोस्ट अनसिविलाइज्ड एवं इनडिसिप्लिन्ड मास्टर्स ऑफ हिस्ट्री हैव टेकन द चार्ज टू सिविलाइज ह्यूमन डेस्टिनी, फेट एंड फारचून) विचारधारा के अंत के साथ उसमें इतिहास के अंत का नया अध्याय और जुड़ गया।

पूर्वी योरोप में समाजवाद के पतन और सोवियत संघ के विघटन के बाद उत्तरआधुनिकतावादी सोच और व्यवहार के नवीन अर्थशास्त्र के निर्माण की प्रक्रिया में अपूर्व तेजी आयी जब पूरा विश्व एक ध्रुवीय राजनीति का केन्द्र बन गया यद्यपि उसकी बौद्धिक-विचारधारात्मक पूर्वपीठिका का निर्माण और उसके क्रमशः पुष्टीकरण का काम द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से ही शुरू हो गया था लेकिन वह सबसे ज्यादा उस स्थिति के प्रति प्रक्रिया है जो समकालीन पूँजीवाद से पैदा हुई है। सुकोमल सेन का कहना है कि “आज के उदारीकरण और भूमंडलीकरण में वाणिज्य एवं व्यापार के नियमों में संतुलन-सामंजस्य अपरिहार्यतः शामिल है ताकि बहुराष्ट्रीय निगमों के आर्थिक एवं राजनीति प्रभाव के भीतर पूँजी, सेवाशर्तों, उपभोक्ता सामग्रियों एवं प्रौद्योगिकी के एकपक्षीय विस्तार को बनाये रखा जा सके।” इतिहास का अंत, सामाजिक क्रांतियों की निस्सारता, मार्क्सवाद और समाजवाद की प्रयोजनहीनता, सांस्कृतिक बहुलवाद की पक्षधरता एवं विखंडनवाद तथा अस्मिता की राजनीति आदि पर बल उसी ओर संकेत करते हैं। फेडरिक जेम्सन ने उसे पूँजीवाद के तीसरे चरण के अनुकूल बताया एवं लंबित पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क ‘कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म’ कहा।

टेरी एगिल्टन ने लिखा है कि उत्तरआधुनिकतावादी समाज और विचारों के स्पष्ट अन्तर्विरोध हैं।” इन्हीं अंतर्विरोधों से उसकी पहचान बनती है। ये अंतर्विरोध ही उसे परिवर्तनकामी एवं यथास्थितिवादी दोनों बताती हैं। उत्तरआधुनिकतावादी विचारधारा की जननी योरोप का विकसित पूँजीवादी समाज है। यह समाज स्वयं अंतर्विरोधों से ग्रस्त है। वह निजी एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर स्वातंत्र्य-भावना का प्रबल समर्थक है। साथ ही वहाँ युद्धक एवं अधिनायकवादी प्रवृत्तियों का गहरा दबाव भी है। वह खुले तौर पर भोगवादी है और दबे-ढँके तौर पर उत्पीड़क और दमनकारी भी।”

एगिल्टन ने आगे समझाया है कि सांस्कृतिक एवं भाषाई बहुलवाद का समर्थन उसका अनेकांतवाद है, पूँजी-संचय का एकांतवाद उसका दूसरा पक्ष है। इस अराजक मेलजोल को बाजार एवं व्यवसाय का सम्मोहन बाँधे रखता है। मंडी-अर्थतंत्र की शक्तियाँ और बाजार के अदृश्य हाथ जितना हर तरह की स्थिरता को उलटने की चुनौती देती है उतना ही अधिक उसकी सुरक्षा के लिए परंपरागत मूल्यों, तौर तरीकों एवं रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उसकी निर्भरता का आग्रह बढ़ता जाता है जो अंततः उस समाज को ही अस्थिर बनाता है।

एक ओर तो उत्तरआधुनिकतावाद भूमंडलीकरण के द्वारा राज्यसत्ता से सामाजिक शांति और सुरक्षा के साथ निजी और राष्ट्रीय हितों के संरक्षण की माँग करता है, दूसरी ओर पूँजीसंचरण की निर्विवाद शक्ति राष्ट्र-राज्य की आधुनिक अवधारणा को काल्पनिक बताकर राज्यसत्ता की इसी क्षमता को कम या नष्ट करती है।

एगिल्टन ने बड़े तार्किक तरीके से समझाया है कि सांस्कृतिक स्तर पर उत्तरआधुनिकतावाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र का भारी-भरकम दर्शन अक्सर क्षयोन्मुख प्रवृत्तियों की राजनीतिक सेवाओं का उपयोग करता है। (उदाहरण के लिए अफगानिस्तान से सोवियत सेना की विदायी के लिए ओसामा बिन लादेन को दी गई सैनिक एवं वित्तीय सहायता जो अमेरिका ने उपलब्ध करायी अथवा पाकिस्तान की रूढ़िवादी सरोकारों को अमेरिका का समर्थन- जोर मेरा) जो राजनीतिज्ञ एवं बुद्धिजीवी खुले अर्थतंत्र वाले

बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था का समर्थन करते हैं वे परोक्षतः धर्म, अध्यात्म, जड़ों की ओर वापसी अथवा अस्मिता के राजनीति के कर्मकांडी रूपों के भी समर्थक हैं।

जितनी कट्टरता धर्म में है उससे कहीं अधिक कट्टरता बाजार और पूँजी की निर्मम दुनिया में है। धार्मिक तत्त्ववाद उसका एक रूप है, राजनीति आतंकवाद उसका दूसरा पक्ष है। दोनों मिलकर हथियारों की होड़ बनाये रखते हैं। सैनिक तानाशाही दोनों का पल्ला पकड़कर आगे बढ़ती है जिसका लक्ष्य है, 'युद्धं देहि!' परिणामतः जनतंत्र का विनाश होता है। किन्तु जितना ही अधिक बाजारवादी व्यवस्था अपने अस्तित्व की सुरक्षा और उसके युक्तिकरण के लिए पराभूत मूल्यों की सेवाओं का उपयोग करती है उतनी ही तेजी से उसका अपना विवेक एवं पंथनिरपेक्ष गतिविधियाँ उसे खोखला साबित करती हुई खारिज भी करती हैं क्योंकि बाजार और पूँजी दोनों की सत्ता पंथनिरपेक्ष होती है (जैसा कि ईरान में अयतुल्ला खुमैनी ने व्यापार, बाजार और वाणिज्य को 1971 में अपनी नव्यइस्लामवादी क्रांति के दायरे से बाहर रखकर प्रमाणित कर दिया था— जोर मेरा)।

अब ऐसी राजसत्ताओं की दुविधा यह है कि वे न तो अपने वर्चस्व के लिए पराभौतिकता को पूरी तरह छोड़ पाती हैं और न उसका अपने में पूरी तरह विलयन या अनुकूलन ही कर पाती हैं। इसलिए वे अनिवार्यतः अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होती हैं। इस दृष्टि से भी विचार करें तो जेमसन ने जिन्हें लंबित पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क कहा है, वे वर्तमान पूँजीवाद के अंतर्विरोधों की पूरी संगति में हैं। राजनीतिक दृष्टि से वह पूँजीवादी शोधों और ज्ञान की नाना शाखाओं की महत्वाकांक्षी उपलब्धियों की बहुआयामी सेवाओं के उपयोग का प्रबल पक्षधर है, किंतु आर्थिक दृष्टि से पूँजी की एकांतवादी सत्ता पर निर्भर भी हैं।

उत्तरआधुनिकतावाद जिस हद तक संचार-क्रांति की व्यापकता और वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप रुचियों के पारस्परिक आदान-प्रदान से विश्व-समुदाय के आर-पार परंपराओं एवं संस्कृति संवर्द्धन के बीच साझा सांस्कृतिक बोध, ग्रहणशीलता तथा बहुलवाद (प्लुरैलिटी) का उपयोग

उन सभी व्यवस्थाओं को चुनौती देने हेतु करता है जो अब भी अपने मूल से चिपके हुए हैं तथा जिन्हें अब भी अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए सनातन मूल्यों, पराभौतिक वैचारिकी अथवा स्वकल्पित विषयों की अपरिहार्य आवश्यकता पर अंधविश्वास की सीमा तक भरोसा है, उसकी भूमिका अग्रगामी कही जायेगी। इतिहास के अंत का एक मायने एक खास तरह के इतिहास का अंत है। वह है, अंधविश्वासों के इतिहास का अंत। किंतु इसी से दूसरा अंधविश्वास जन्म लेता है। वह है, जो वर्तमान है वहीं अंतिम एवं फाइनल भी है। इस अन्तर्विरोध को न पहचानकर उत्तरआधुनिकतावाद को पूरी तरह नकार देना सही नहीं है।

टेरी एगिल्टन ने उत्तरआधुनिकतावादी चिंतन की सीमित प्रगतिशील भूमिका को स्वीकार करते हुए उसकी सीमाओं की ओर संकेत किया है। उनका तर्क है कि उत्तरआधुनिकतावाद जिस हद तक इतिहास के पटापेक्ष की स्वपोषित वैचारिकी की घोषणा करता है, वह वर्तमान से अलग किसी वैकल्पिक भविष्य की योजना भी नहीं रखता। इस तरह की वैचारिकी का एक संभावित भविष्य अवश्य है, जिसका नाम है फैसिजम।

एगिल्टन का दूसरा तर्क है उत्तरआधुनिकतावादी सोच समाज को संयमित एवं व्यवस्थित करने वाले उच्चतर शैक्षिक, बौद्धिक एवं नैतिक नेतृत्व (हेजेमनी) को भी आवश्यक नहीं मानता। उस व्यवस्था की किताब से श्रेष्ठ मूल्यों एवं आदर्शों का विलोप यह सिद्ध करता है कि उत्तरआधुनिक समाज को उसकी न्यूनतम जरूरत है। खासतौर से जब नागरिक समाज वही करे जिसकी माँग व्यवस्था करती है। पश्चिम के अतिआधुनिक समाजव्यवस्था को बराबर स्वनिर्माण के लिए मानव-चेतना की संवरणशील सुगंध की भी आवश्यकता नहीं है जिसकी जरूरत पुनर्जागरणकाल के चिंतकों, दार्शनिकों एवं कलाकारों ने निरंतर महसूस किया था। इसके विपरीत अब वह स्वयं मानव-चेतना को विपथगा बनाकर अपने ही निर्मित अभियांत्रिकी एवं प्रबंधन तकनीक पर टिका रहना ज्यादा सुविधाजनक पाता है। इस तरह उत्तरआधुनिकतावाद समाधान की अपेक्षा समस्या का ही अंग बन जाता है।

संपर्क : 62, वन विहार कॉलोनी, टंक रोड, जयपुर- 302018

सुबोध की सहज, सरल, सुबोध कहानियाँ

धनंजय वर्मा

भूतपूर्व कुलपति, सागर विश्वविद्यालय

नयी कहानी की केंद्रीय पत्रिका 'नई कहानियाँ' का इलाहाबाद में पुनरागमन हो चुका था। उसके संपादक भीष्म साहनी की जगह अमृतराय हो गये थे। इस बदलाव पर कमलेश्वर ने अपने सिफ़ाती अन्दाज़ में फ़िकरा चस्पाँ किया था: 'अभी तक हमलोग भीष्म की अमृतवाणी सुन रहे थे, अब अमृत की भीष्म प्रतिज्ञाएँ सुनेंगे।'।

भैरव प्रसाद गुप्त के सम्पादन में प्रकाशित 'नई कहानियाँ' में मेरा लेखन 1962 से ही शुरू हो चुका था और कमलेश्वर के संपादन में भी मैंने उसमें लिखा था। अमृतराय से अपने परिचय की वजह से 'नई कहानियाँ' में मेरा लेखन अब लगभग नियमित हो गया। उसमें एक स्तंभ 'कथा-चक्र' शुरू किया गया। इसमें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित माह भर की कहानियों और कहानी चर्चा का जायजा लिया जाता था। इसे लिखने का जिम्मा मुझे सौंप दिया गया। मैंने 'चक्रवर्ती' नाम से इसे खासे लम्बे वक्फे तक लिखा। उसी दौरान सुबोध कुमार श्रीवास्तव की कहानियाँ पढ़ने का अवसर मिला था। मुझे याद है उनकी एक कहानी 'कुम्हड़े की सब्जी' – का जिक्र मैंने अप्रैल 1968 के अंक में किया था। अमृतराय ने अपने संपादकीय लेखों में 'सहज कहानी' का विचार प्रस्तुत किया था। यह विचार जाहिर है, 'नयी कहानी' की तर्ज पर था और 'अकहानी' तथा 'समांतर कहानी' की तरह प्रस्तावित था। अमृतराय ने अपने 'हंस' प्रकाशन से 'सहज कहानी' का एक संकलन भी संपादित-प्रकाशित करने की योजना भी बनाई थी। उसमें भी सुबोध की एक कहानी सम्मिलित की गई थी। वह संकलन फिर प्रकाशित नहीं हो पाया। 'सहज कहानी' भी 'अकहानी' और 'समांतर कहानी' की तरह मृत जात (स्टिल बॉर्न) साबित हुई।

सुबोध ने उन दिनों बतकही के अपने दिलचस्प अंदाज़ में सहज, सरल और सुबोध कहानियाँ लिखकर लोगों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचा था। मैं इन दिनों नरसिंहपुर में थे इसलिए कटनी निवासी सुबोध की कहानियों की 'कस्बाई लुनाई' और 'आंचलिक भोलेपन' ने मुझे भी आकर्षित किया था। आधुनिक भावबोध के आयातित मुहावरों में उच्च तथा मध्य वर्गीय

शहरी कथानकों और पात्रों की कहानियों के समानांतर कस्बों और गाँवों की ठेठ देसी कहानियों का भी एक बड़ा पाठक वर्ग था। उसमें सुबोध एक लोकप्रिय नाम था। आज भी है।

एक लंबे अंतराल- लगभग चालीस बरस के बाद सुबोध की दस कहानियों (कुछ कुछ अपना) और उनका लघु उपन्यास (रात और मौत के आगे आगे) पढ़ते हुए गुजरा हुआ वक्त याद आ गया।...

सुबोध हैं भी तो गुजरे हुए वक्त की यादों को जीने और उसे ही फिर-फिर कर लिखने वाले कथाकार। यादों में कूच: गर्दी के दौरान शकील का यह शेर बेसाखा कौधता है:

*हयात एक मुस्तकित गम के सिवा कुछ भी नहीं शायद
खुशी भी याद आती है तो आँसू बनकर आती है।...*

सुबोध की कहानियों में भी गम की यही कैफियत पिन्ही है। गौर करें तो बीते हुए को फिर-फिर कर जीने में ही तो कहानी का आदिम कथा रस अन्तर्निहित है। सुबोध की कहानियों में किस्सागोई का यही कथारस है। 'एक था राजा' सरीखी अभिव्यक्तियों से ही तो कहानी की शुरुआत होती रही है और 'जैसे उनके दिन फिरे' से उसका समापन। सुबोध की कहानियाँ भी अधिकांशतः अतिलक्षी हैं। उनमें वर्तमान भी व्यतीत होता हुआ पहले से विद्यमान हो जाता है। सुबोध के पात्र भी अक्सर अपने पुराने कस्बे और अतीत के खंडहरों या व्यतीत पर खड़ी इमारतों में लौटते हैं और बीते हुए दिनों के अपने खो गए साथियों और आत्मीय संबंधों को फिर-फिर कर जीते हैं। इन साथियों के चेहरों और संबंधों पर वक्त की दुर्निवार मार के नुक़्श होते हैं और उनकी सांसें में अतीत की घनीभूत पीड़ा समायी होती है।

सुबोध की कहानियों का संसार निम्नमध्यवर्गीय और गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले लोगों का संसार है। इसी संग्रह की चार कहानियाँ निम्न मध्यवर्गीय परिवारों पर केंद्रित हैं और चार गरीबी रेखा से नीचे गुजर-बसर करने वाली महरी और कुम्हारिन, खान मजदूरों के बच्चों और ट्रेन में मूँगफली बेचकर किसी तरह जीने वाले बच्चों पर।... शेष दो में से एक की मर्मन्तक तकलीफ इस सवाल से नुमायाँ होती है- 'हम पुरुष किसी लड़की को रंडी क्यों बना देते हैं'- तो दूसरी 'आज मुझे कह लेने

दो' उस पुलिस की टीस को जुबाँ देती है जिसे आम तौर पर आत्याचारी और नकारात्मक रंगों में पेश किया जाता है। यहाँ एक और हैं- नानी और झगडू, कल्लू और शिबू, नन्दू और पुहन-छुट्टन तो दूसरी और हैं- कक्काजी और मुरलीबाबा, डॉक्टर चच्चा और चौदुहा जी के साथ कानी बरू जैसे कस्बाई चरित्र। चन्दू और शांति, जिज्जी और गिन्नी की आत्मीयता के साथ हैं बच्चू और गुल्लू, गुड्डू और मंजू, काजल और मेवा भैया की पारिवारिकता। फिर यहाँ उभरती है- राशन की दुकान में मिट्टी तेल के लिए जद्दोजहद में अपने बच्चे तक का ख्याल न रख पाने की मजबूरी ढोती महरी, खान मजदूरों के छोटे मासूम बच्चों- पप्पू गुड्डिया- की भूख, मूँगफली बेचने वाले लड़के-लड़कियों की बेचारगी और उन पर होते अत्याचार और उनका यौन शोषण करती पुलिस...। कुल मिलाकर यह दुनिया खासी बेचैन और उदास कर देने वाली है।... भयावह आर्थिक विपन्नता झेलते आम आदमी की वास्तविक तकलीफों और समकालीन जीवन में तेजी से हो रहे अमानवीकरण से रू-ब-रू करानेवाली इन कहानियों में यथार्थ का 'आँखों देखा हाल' ही नहीं, संवेदना से आगे बढ़कर, अनुभव के धरातल पर भोगे हुए यथार्थ का सीधा सहज बयान भी है। कस्बे का शहर में होता रूपांतरण और नतीजतन टूटते हुए घर और मानवीय संबंधों की व्यथा-कथा कहती इन कहानियों में लेकिन, सुबोध का दृष्टिकोण नकारात्मक या निराशावादी नहीं है। आवर्त दशमलव के बाद अंकों की तरह हाशिये पर जीते, अस्तित्वहीन लोगों में भी जीवन-आस्था और मानवीय सामर्थ्य में विश्वास है। मस्जिद ढहा दिये जाने की बरसी (छ: दिसम्बर) पर अपने पुराने साथी नदीम के घर लौटता हुआ 'मैं' एक-दूसरे को कटुआ और काफिर कहने वाले लोगों के बीच भी ईद मिलाप पर भरत-मिलाप का अभिप्राय अध्यारोपित करता हुआ अपनी धर्मनिरपेक्ष सकारात्मक सोच को रेखांकित करता है। इन कहानियों में विषण्ण यथार्थ के बावजूद सुबोध की प्रगतिशील चेतना और दृष्टि सहज ही देखी जा सकती है।

'सड़क देश की अर्थव्यवस्था की तरह डाँवाडोल थी' या 'काम चलाऊ प्रधानमंत्री को भी अपने पद से चिपके रहने पर भी उतनी खुशी नहीं हुई होगी, जितने मुझे बचपन

में दूध की गुड़ियाँ बनने पर होती थी' सरीखी अभिव्यक्तियों के माध्यम से आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था पर व्यंग्य की चोट करने वाले सुबोध की भाषा में भी एक ताजगी और टटकापन मिलता है। 'दिन' के इन चार बयानों पर गौर कीजिए:

1. रेत के बीने चमकीले पत्थरों से अनमोल दिन
2. चमचमाते दिन
3. चकमक पत्थर जैसे जादू भरे दिन
4. तितलियों की तरह यहाँ से वहाँ मंडराते बेफिक्र दिन और आँखों में रंगीन मछली की तरह उछलता बचपन...

'रात और मौत के आगे आगे' सुबोध का लघु उपन्यास है। जिसे लम्बी कहानी कहना ज्यादा मुनासिब है। उपन्यास या कहानी से अधिक यह एक रिपोर्टाज है— दो तीन दिसम्बर 1984 की भयावह रात का जिसमें यूनियन का बाइडू के कारखाने से रिसी गैस से भोपाल में मौत का

कहर बरपा हुआ था। सुबोध अपने मित्र की बारात में भोपाल आये थे और ऐन उस इलाके में रुके थे, जहाँ गैस का असर सबसे ज्यादा था। अपने और अपने मित्रों के साथ बीती रात की उस त्रासद दुर्घटना का तबील ब्योरो के साथ इतना तात्कालिक विवरण सुबोध ने दिया है कि पढ़ने के दौरान वह काली भयावह रात आसमान में फिर उतरती महसूस होती है और एक हैवतनाक कैफियत न केवल तारी हो जाती है बल्कि हमारा पीछा करती हुई हमारे भीतर उतर जाती है। यह 'आँखों देखे हालात' के बयान से आगे बढ़कर एक भुक्तभोगी की आप बीती भी है इसीलिए इतनी प्रामाणिक है। यहाँ भी सुबोध ने घटना का विन्यास इस तरह रचा है कि एक भयानक त्रासदी के विवरण का समापन नयी जीवन यात्रा के मुहूर्त में होता है। यह सुबोध की सकारात्मक और आशावादी दृष्टि का प्रमाण है।

संपर्क:

एफ-2/31, आवासीय परिसर, विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन-456010 (म.प्र.) मो. 9425019863

विजेन्द्र के काव्य नाटकों में प्रतिरोध-बौद्धिक

डॉ. अमीर चंद वैश्य

आजकल जिस अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी अर्थ में 'काव्य' का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन भारत में। प्रमाण है यह प्रचलित उक्ति 'काव्येषु नाटकं रम्यं' अर्थात् काव्य की सभी विधाओं में नाटक सर्वाधिक रमणीय विधा है। भरत मुनि द्वारा प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' भी इसका प्रमाण है। अतएव संस्कृत में काव्यात्मक नाटक अधिक रचे गए हैं। कालिदास द्वारा विरचित 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' विश्वविख्यात नाटक है, जिसे पढ़कर जर्मन कवि गेटे परम प्रसन्न हुआ था। कहते हैं कि नाटक का चतुर्थ अंक सर्वाधिक मर्मस्पर्शी है। यह नाटक कालिदास के महाकाव्यत्व का प्रमाण है। इसी प्रकार करुणामूर्ति भवभूति द्वारा प्राणी 'उत्तररामचरितम्' सर्वाधिक मर्मस्पर्शी है। यह नाटक देखकर पत्थर भी रोने लगता है। इसी नाटक में भवभूति ने 'करुण रस' को एक मात्र रस माना है, जिसमें अन्य मनोभाव विलीन हो जाते हैं। नाट्य विधा लोक से प्रत्यक्ष संबंध जोड़ती है। यह विधा सभी वर्णों के लिए दर्शनीय मानी गई है। संस्कृत के प्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट भी 'रंगमंडली' के निर्देशक थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी प्रसिद्ध औपन्यासिक कृति 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में इसका संकेत किया है। यदि गंभीरता से अध्ययन किया जाए तो संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्यों अर्थात् 'रामायण' और 'महाभारत' में अनेक नाटकीय तत्त्व लक्षित होंगे। यानी वर्णनात्मकता के साथ-साथ नाटकीय संवाद और आकस्मिकता। शूद्रक द्वारा रचित नाटक 'मृच्छकटिकम्' अर्थात् 'मिट्टी की गोड़ी' में अन्यायी एवं शोषक व्यवस्था के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध की अभिव्यक्ति की गई है। यह नाटक वर्तमान काल में भी लोकप्रिय हुआ है। प्रख्यात नाट्य निर्देशक हबीब तनवीर की नाट्य-प्रस्तुतियों द्वारा।

संस्कृत की समृद्ध नाट्य परम्परा को 'राम-लीला' एवं 'रास-लीला' द्वारा जन-जन तक पहुँचाया गया।

उपन्यासकार अमृतलाल नागर ने 'मानस का हंस' में यह संकेत किया है कि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' का प्रचार राम-लीला के मंचन से किया था। बनारस में आज भी 'राम-लीला' का आयोजन 'मानस' के आधार पर किया जाता है। प्रसिद्ध आलोचक प्रो. मधुरेश ने कथा-वाचक प. राधेश्याम के नाटकों का मूल्यांकन किया है। और यह संकेत भी किया है बरेली की बमनपुरी में आयोजित होने वाली 'राम-लीला' के मंचन में प. राधेश्याम की 'रामायण' की पंक्तियों का प्रयोग संवादों के रूप में किया जाता था। और आज भी किया जाता है। इसी प्रकार ब्रज जनपद में, विशेष रूप से मथुरा में, रास-लीला का मंचन आज भी किया जाता है। महाकवि सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों की पदावली के आधार पर।

तात्पर्य यह है कि नाटक के विभिन्न रूपों से लोक का मनोरंजन किया जाता है। और सम्प्रति यह विधा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध सक्रिय है। स्वाधीनता-संघर्ष के दौर में जन नाट्य मंच अर्थात् 'इप्ता' ने नाटकों के मंचन से उस समय जन-गण-मन को जगाया था। प्रसिद्ध अभिनेता बलराज साहनी 'इप्ता' के मंच से सिनेमा के स्क्रीन पर पहुँचे थे। उनकी प्रसिद्ध फिल्म 'दो बीघा जमीन' आज भी दर्शकों को आन्दोलित करती है। इसमें दिखाया गया है कि एक गरीब किसान अपनी दो बीघा जमीन बचाने के लिए अपना जीवन दाँव पर लगा देता है।

आजादी के बाद हिंदी नाटक गद्य प्रधान हो गया। हाँ, जगदीश चन्द्र माथुर और मोहन राकेश के नाटकों में काव्य की अनेक विशेषताएँ लक्षित होती हैं। काव्यात्मक नाटक अधिक नहीं रचे गए हैं। भारतेंदु और प्रसाद के नाटकों में काव्यत्व अधिक है। लेकिन उनके नाटक पूर्णतः काव्य नाटक नहीं हैं। इस दिशा में धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' ने अपने सर्वाधिक मंचन से लोकप्रियता अर्जित की है। लेकिन अपने युग को 'अंधा' बताना खटकता है। प्रत्येक काल में द्वंद्वात्मक शक्तियाँ संघर्ष करती हैं। 'अंधता' के विरुद्ध। और प्रकाश के समर्थन में। निराला की प्रसिद्ध लंबी कविता 'राम की शक्ति पूजा' में 'अमा निशा' के विरुद्ध 'केवल जलती मशाल' का बिम्ब इसी की ओर संकेत कर रहा है। मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'अँधेरे में' में भी यही द्वन्द्व लक्षित होता है।

नई कविता के कवियों में नरेश मेहता ने तीन काव्यात्मक नाटक लिखे थे। 'संशय की एक रात' 'महाप्रस्थान' और 'प्रवाद पर्व'। तीनों की शैली तो नाटकीय है, लेकिन नाटकों में प्रतिरोध के सौन्दर्य का अभाव है। 'संशय की एक रात' के नायक राम इतने संशय-ग्रस्त हैं कि लंका पर आक्रमण नहीं करना चाहते हैं। उन्हें विवश होकर युद्ध के पक्ष में संकल्प करना पड़ता है। 'महाप्रस्थान' का मूलाधार 'महाभारत' का प्रस्थान पर्व है। हिमालय की यात्रा के लिए प्रस्थान करने वाले पांडवों में युधिष्ठिर 'सर्वहारा वर्ग' का समर्थन न करके 'विचारधारा साधारण जनों' के बारे में साचेने की बात कहते हैं। लेकिन सवाल यह खड़ा होता है कि आर्थिक विषमता के स्थान पर 'सामाजिक सुषमा' की

स्थापन मात्र करुणा के बल से हो जाएगी? यदि ऐसा संभव है तो भारत में विषमता क्यों बढ़ती जा रही है। क्या मात्र करुणा से क्रूर सत्ता एवं साम्राज्यवाद का चरित्र बदल जाएगा। नहीं। ऐसा असंभव है। युधिष्ठिर का राजनैतिक चिंतन निष्क्रिय है, जो भारतीय कविता की परंपरा में है ही नहीं। 'प्रवाद पर्व' का मूलाधार सीता का निर्वासन प्रसंग है। यह काव्य आपात् काल के विरोध में लिखा गया था। लेकिन इसकी रचनात्मक विसंगति यह है कि नायक राम 'एक अनाम साधारण जन की तर्जनी' को विशेष समादर करते हुए अन्याय की अनदेखी करते हैं। कवि सीता का प्रतिरोध व्यक्त नहीं कर पाया है। आज की नारी सामाजिक समकक्षता और सम्मान के लिए निरंतर सर्जनात्मक संघर्ष कर रही है। नरेश मेहता के प्रशंसक आलोचक रामकमल राय ने उपरोक्त तीनों नाटकीय काव्यों में कोई अन्तर्विरोध नहीं देखा है। अथवा अनदेखा कर दिया है। इन काव्यों की भाषा रंगमंच के अनुरूप नहीं है। इसके विपरीत लोकधर्मी कवि त्रिलोचन ने दो लघु नाटकों 'भूखे भेड़िये' (1945) और 'शैतान और इंसान' (1945) में सहज सम्प्रेषणीय भाषा में प्रभावपूर्ण संवाद रचे हैं। मुक्त छंद में। प्रतिरोध का सौन्दर्य सिरजा है। त्रिलोचन का वैचारिक संदेश अन्तर्राष्ट्रीय है। 'केवल भारतीय ही नहीं/विश्व का मानव जागे।' सन् 1945 में भारत पराधीन था। ये दोनों काव्य नाटक आज भी भारतीय जन-गण-मन को स्वातंत्र्य भाव से पूरित करते हैं। 'शैतान और इंसान' काव्य नाटक का जोशीला संदेश आप भी पढ़िए— *"हम को उन शिकारियों को/ अंधा करना है/ जो टट्टी की ओट में छिपे हैं/ स्वतंत्रता के जन्म-शत्रु हैं/ याद रहे सर्वदा/ नीर यही नहीं बहा है/ ग्रीस देश के जीवन का यह खून बहा है/ खून हमें ललकार रहा है/ स्वतंत्रता के लिए/ रक्त दो/ बढ़ो/ रक्त दो।"* ('तुम्हें सौंपता हूँ' पृ. 164)

उपरोक्त उद्धरण में 'ग्रीस देश के' अंश को 'हिंद देश के' अथवा 'भारत के' रूप में समझा जा सकता है।

अपने काव्य-गुरु त्रिलोचन से काव्य-शिक्षा अर्जित करके विजेन्द्र ने अपने काव्य में जनपदीयता के साथ-साथ अजेय 'जनशक्ति' के सामूहिक एवं वैयक्तिक चरित्र का कलात्मक निरूपण किया है। उनकी छोटी-मझोली- लम्बी

कविताओं में भी नाटकीय एकालाप और संवाद का समावेश कथ्य के अनुरूप हुआ है। कालिदास-भवभूति के अलावा शेक्सपीयर के नाटकों के अध्येता विजेन्द्र ने सन् 2006 में 'अग्नि पुरुष' और 'क्रौंच वध' नाटक प्रकाशित करवाए हैं। इनका रचना-विधान नाटकीय है। त्रिलोचन के काव्य नाटकों के समान दोनों नाटकों के संवाद तार्किक ढंग से मुक्त छंद में रचे गए हैं। दोनों नाटक समकालीन हिंदी कविता की 21वीं सदी के पहले दशक की महती उपलब्धियाँ हैं।

काव्यात्मक नाटकों की लोकधर्मी परम्परा को दृष्टिगत रखते हुए इनके वैशिष्ट्य-विवेचन का प्रयास प्रस्तुत है।

अग्नि पुरुष : इस काव्य नाटक का आधार 'महाभारत' का एक प्रसंग है। खाण्डव वन-दहन'। विजेन्द्र ने अपनी नाट्य कृति के लिए प्रसंग खूँटी के समान प्रयुक्त किया है। अपनी नाटकीय अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए। प्रसंगवश यह बात उल्लेखनीय है कि 'रामायण' और 'महाभारत' ऐसे महाकाव्य हैं, जिनके अलग-अलग चरित्रों पर कलात्मक उपन्यास, काव्य, नाटक, कविताएँ लगभग सभी भारतीय भाषाओं में रची गई हैं। मैथिलीशरण गुप्त का खण्ड काव्य 'जयद्रथ-वध' महाभारत पर आधारित है। और उनका 'जयभारत' भी। कर्ण के चरित्र पर दिनकर का खण्ड काव्य 'रश्मिरथी' लोकप्रिय है और 'कुरुक्षेत्र' भी। इसमें युद्ध और शांति की समस्या का तार्किक विवेचन किया गया है।

प. राधेश्याम कथा-वाचक का अत्यंत लोकप्रिय नाटक 'वीर अभिमन्यु' का घटना-प्रसंग 'महाभारत' से ग्रहण किया गया है। कन्नड़ भाषा के सर्वाधिक प्रतिष्ठित उपन्यासकार एस. एल. मैरप्पा ने सम्पूर्ण महाभारत का गंभीर अध्ययन करने के उपरान्त आधुनिक जीवन-दृष्टि से महाभारत की पुनः रचना की। उपन्यास 'पर्व' के रूप में। हिंदी में उसका अनुवाद काफी लोकप्रिय हुआ है। प्रसिद्ध कथा-आलोचक प्रो. मधुरेश ने 'पर्व' की विस्तृत आलोचना में लिखा है- "सर्जनात्मक चुनौतियों एवं सम्भावनाओं की दृष्टि से 'पर्व' उनकी महत्त्वकांक्षी रचना है। यहाँ आधुनिकता और समकालीनता के दबाव को वे अनेक स्तरों पर झेलते और टकराते दिखाई देते हैं। समूचे भारतीय साहित्य में महाभारत पर आधारित रचनाएँ प्रचुरता से उपलब्ध हैं। अपने समान संदर्भों में प्राचीन मिथकों का उपयोग कैसे

सार्थक हो सकता है, 'पर्व' इसके लिए एक उदाहरण का काम करता है।" (शिनाख्त, पृ. 402) संक्षेप में कह सकते हैं कि 'पर्व' अभिनव औपन्यासिक कृति है, जिसमें लेखक ने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रयोग विश्वसनीय ढंग से किया है।

लोकधर्मी कवि विजेन्द्र ने 'महाभारत' के उपरोक्त प्रसंग का सर्जनात्मक रचाव समकालीन जीवन-दृष्टि से किया है। कवि ने 'खाण्डव वन-दहन' के मिथक को समकालीन सरोकारों से जोड़कर अपनी रचना को अभिनव नाट्य कृति की गरिमा प्रदान की है।

महाभारत के प्रसंग के अनुसार भूखे अग्निदेव श्रीकृष्ण और अर्जुन से अनुरोध करते हैं- मैं खाण्डव वन जलाकर अपनी भूख मिटाना चाहता हूँ। मेरा यह अभीष्ट कार्य इन्द्र पानी बरसाकर पूरा नहीं होने देता है। श्रीकृष्ण और अर्जुन वरूण से आयुध प्राप्त करके अग्नि की सहायता करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि 'खाण्डव वन दहन' देवताओं की पराजय माना गया।

उत्तर-आधुनिक युग में मानव-प्रगति के प्रबल अभिलाषी विजेन्द्र ने भूखे अग्नि पुरुष को विश्व ने कोटि-कोटि निरन्, निर्वस्त्र, निर्वासित, निरीह, दलित एवं शोषित समष्टि मानव का प्रतीक मानकर विलासी इन्द्र को परिश्रम से घृणा करने वाले उच्चवर्ग के विलासी पूँजीपतियों का प्रतीक माना है। और उसके सौन्दर्य-बोध को जन विरोधी। विजेन्द्र ने 'पूर्वकथन' में अपनी अभीष्ट उद्देश्य व्यक्त करते हुए ठीक लिखा है- "अग्नि मेरे लिए आज के शोषित और आंदोलित होते जन का प्रतीक है। उसके चरित्र को कई आयामों में प्रयुक्त करना प्रासंगिक लगा। एक अभिप्राय यह भी रहा कि अपने इतिहास में छिपी मानवीय चेतना को अपने समकालीन सरोकारों के बहुआयामी संदर्भ में देखा-समझा जाए। बिना अतीत को समझे अपने वर्तमान को समझना मुझे सहज नहीं लगता। ...जीवन की एक अजेय और अजस्र विद्रोही धारा हमारे इतिहास का सार है। यह वही अग्रगामी इतिहास चेतना है, जो हर समय के साहित्य में तरह-तरह से व्यक्त हो रही है।"

विजेन्द्र ने 'अग्रणी इतिहास चेतना' को अपने समय और समाज की ज्वलंत समस्याओं से जोड़कर काव्य-

नाटक के नायक अग्निपुरुष के अन्तर्द्वन्द्व, प्रयास और संघर्ष का निरूपण कल्पना का आश्रय लेकर किया है।

महाभारतकार व्यास के स्वगत मानो कवि विजेन्द्र की चिन्ता व्यक्त करते हैं- “कौन है! कौन/ ये किसकी पदचापें/ पीछा करती हैं मेरा/ कौन है/ जो जानता गहरे तक/ मेरे छिपे मन को/ अंदर तक धँसता सा/ काँपती है चेतना/ डिगा जाता विश्वास मेरा। / प्रतिहिंसक आवाजें करती हैं/ पीछा डरावनी आवाजें/ मेरे चारों ओर ओह!!” (पृ. 20-21)

ये प्रतिहिंसक आवाजे उन श्रमजीवियों की हैं, जो प्रारंभ में श्रमजीवियों की क्रियाशीलता ने प्रदर्शित कीं। लेकिन सर्वाधिक करुणा-भरी आवाज अग्नि की है। जो अर्जुन और कृष्ण से कहता है- “पर सुनो प्रभु/ चाहिए मुझे स्थाई समाधान/ अन्न और भूख का।/ ... जो अभय पुरुष अर्जुन/ यह नहीं है प्रश्न अकेले का/ जीते जी मरते हैं सहोदर भूखे/ हजारों असंख्य मेरे अपने।” (पृ. 21) स्वाभिमानी अग्नि आगे कहता है कि कुलीन जनों की दया ने हमें आत्मबल से हीन कर दिया है। और वास्तविकता तो यह है कि “जिसने रचा अपनी जाति को/ पिसा है वही/ जो फूँकता है कोयला/ गलाता है धातुएँ/ और ढालता है स्यातः/ लोहा/ काटता है फसलें/ तोड़ता है पत्थर।” (पृ. 24)

अग्नि अमूर्त दर्शन के प्रति अनास्थावान् है, और जन-संघर्ष के प्रति आस्थावान्। अतः मित्र वरुण से गांडीव, रथ और चक्र प्राप्त करके वह ‘जनशक्ति’ को संगठित करता है। और साम्राज्यवाद के प्रतीक इन्द्र के उपनिवेश पर विजय प्राप्त करके सामूहिक जनशक्ति का उद्घोष करता है। वरुण का संदेश है- “करो मुक्त पूरे जनपद को/ मुक्त करो जन जन को/ मुक्ति ही हमारा आराध्य है।” (पृ. 38) विजेन्द्र ने प्रसंग के अनुसार अमरीकी साम्राज्यवाद का विरोध इसलिए किया है कि वह विश्व में एक ध्रुवीय संसार देखना चाहता है, जो असंभव है। क्योंकि पूँजी के विरुद्ध जनशक्ति प्रदर्शन कर रही है। इस इक्कीसवीं सदी में भी। पूँजी के वर्चस्व के कारण ही संसार में भूखे-दूखे लोगों की गणना संभव नहीं है। भूखा अग्नि उन सबका प्रतिनिधि है। वह इंद्र पर आक्रमण करता है। अतः अग्नि कहता है- “क्रूरता के विरोध में/ न्याय के पक्ष में/ सामूहिक मुक्ति को/ लड़ना पड़ना युद्ध/ सामाजिक न्याय को/ दमित

पीड़ित दलितों के पक्ष में।” (पृ. 47) यद्यपि वह स्वीकारता है कि युद्ध विनाशकारी होता है।

इतिहास के गर्भ से सामूहिक चेतना की हुंकार सुनकर इन्द्र का आसन डोलने लगता है। और वह कहता है कि “ओह, अग्नि कौन है/ क्यों बिखरता-सा लगता/ मेरा सोच, विभ्रमित मेरा ज्ञान/ पक्षाघात मारता सा/ मेरी सुकुमार संज्ञा को।” (पृ. 59) उसकी अमूर्त कलाकृति उर्वशी खंडित हो जाती है। आशय यह है कि वस्तु-जगत् से विच्छिन्न कृति वस्तुतः विकृति है। उसका समाज से कोई सरोकार नहीं होता है। इन्द्र की पराजय से आभिजात्य संस्कृति ध्वस्त हो जाती है। और श्रम पर आधारित नई संस्कृति का रूप निखरने लगता है। व्यास के संवाद के माध्यम से विजेन्द्र अपनी पक्षधरता स्पष्ट करते हैं- “पक्ष क्रियाशील शब्द जन-पक्ष में/ यही है अर्थवान् व्यंजना इतिहास की/ ... देखो उधर/ उठती हैं हिलोरे समुद्र में/ अंकुरित है चेतना का नया बीज/ मुझे तो रहना है/ चेतना के उसी अंतिम छोर पर/ जो प्रेरित सृजित है/ नवीनतम जन उभार से।” (पृ. 66)

सारांश यह है कि विजेन्द्र ने समकालीन जीवन-संघर्ष के लिए काव्यात्मक नाटक की विधा अपनाकर उसका निर्वाह सफलता पूर्वक किया है। भावों की द्वन्द्वात्मकता, विचारों की तर्कशीलता, चरित्रों की दुर्बलता और सबलता, रणनीति की सफलता, संवादों की स्वच्छंद गतिशीलता, भाषिक संरचना की बोधगम्यता, जन-जीवन के क्रिया कलाप से ‘अग्निपुरुष’ सार्थक काव्यनाटक है। नरेश मेहता के काव्य नाटकों- ‘संशय की एक रात’, ‘महाप्रस्थान’, ‘प्रसाद पर्व’, की तुलना में यह काव्य नाटक इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें साम्राज्यवादी उपनिवेशवाद का प्रबल प्रतिरोध करके श्रम की स्वाधीनता का मान बढ़ाया है। श्रमजीवियों के प्रतीक तेजस्वी अग्निपुरुष की विजय पर उत्साही श्रमीगण सोल्लास गीत गाते हैं- “धरती होती है मुक्त, मुक्त/ न करें वर्षा इन्द्र न करें/ बादल समुद्र और जंगल/ हमारे अपने हैं/ जो होगा देखेंगे/ धरती को जोतेंगे/ लोहे की छड़ों को मोड़ेंगे/ खनिजों को खोदेंगे गलाएँगे/ और नई-नई आकृतियों में/ ढालकर बताएँगे।” (पृ. 102) ‘अग्निपुरुष’ अद्वितीय सफल काव्यनाटक है। बड़े माने जाने

किसी कवि ने ऐसा सघन भावों और विचारों से अन्वित करके काव्य नाटक लिखने का संकल्प तक नहीं किया है।

क्रौंच वध : यदि 'अग्निपुरुष' काव्य नाटक विजेन्द्र को भारतीय प्रसिद्ध महाकाव्य 'महाभारत' से जोड़ता है तो 'क्रौंच वध' काव्यनाटक उन्हें आदि महाकाव्य 'रामायण' की रचना-प्रेरणा से। इस प्रकार विजेन्द्र अपने समय और समाज के ज्वलंत प्रश्नों के अपने काव्य-संसार में कलात्मक उत्तर प्रस्तुत करने के लिए अपनी परम्परा को सर्जनात्मक रूप प्रदान करके कथ्य और कथन दोनों स्तर पर अपनी निजता की छाप अंकित करते हैं। यदि विजेन्द्र ने 'अग्निपुरुष' के माध्यम से अमरीकी साम्राज्यवाद की एक ध्रुवीय दुनिया, आभिजात्य वर्ग की विलासिता, आंतरिक सौन्दर्य से विहीन मात्र बाहरी रूप, कलावादी काव्य-दृष्टि का प्रखर विरोध करके कोटि-कोटि अकिंचन जन-गणों के प्रतीक भूखे अग्निपुरुष की सामूहिक विजय-उद्घोष व्यक्त किया है, तो 'क्रौंच वध' की प्रसिद्ध दुर्घटना से प्रेरित होकर 'रामायण' के रचयिता महर्षि वाल्मीकि के चरित्र में स्वयं के कवि रूप का समावेश करके समकालीन कविता की कई बातों का समावेश किया है। महर्षि वाल्मीकि के बारे में अनेक बातें प्रचलित हैं। मसलन, वह पहले लूट-मार का काम किया करते थे। सम्भवतः निम्न जाति के थे। लेकिन संतों के समझाने पर उन्होंने लूट-मार का परित्याग कर दिया और 'राम' नाम का जाप उल्टे रूप में करके ब्रह्मर्षि माने जाने लगे। तुलसी ने इस बात का उल्लेख किया है—
“उल्टा नाम जपत जग जाना/ वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना।”
उनके मानस में काव्य-सर्जना का स्फुरण स्वतः स्फूर्त ढंग से हुआ। एक बार वह तमसा नदी के तट पर घूम रहे थे। अचानक करुण-क्रन्दन उन्हें सुनाई पड़ा। उनका ध्यान-भंग हुआ। उन्होंने अचानक देखा कि एक व्याध अथवा निषाद ने रति-क्रीड़ा-रत क्रौंच मिथुन में नर क्रौंच का वध कर दिया। इस अप्रत्याशित घटना ने वाल्मीकि का मानस क्षुब्ध कर दिया। सात्विक क्रोध का उदय हुआ। करुणा जागी। और उनके मुख से अभिशाप-युक्त शोक-युक्त वाणी सर्वथा नवीन लघु छंद में मुखरित हो करके श्लोक के रूप में विख्यात हो गई—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौंच मिथुना देकमवधीः काम-मोहितम्॥

और फिर वाल्मीकि ब्रह्मा के अनुरोध पर राम का 'लोक' प्रसिद्ध चरित्र अंकित करने के लिए 'रामायण' महाकाव्य की रचना नारद के परामर्श से की। 'रामायण' को आदि महाकाव्य इसलिए कहा जाता है कि इसने पहली बार 'देवों' के स्थान पर संघर्षशील मानव राम का चरित्र अंकित करके नए मानव मूल्यों की स्थापना की।

कवि विजेन्द्र की जीवन-दृष्टि भौतिकवादी है। वह यह मानते हैं कि पदार्थ से चेतना का विकास हुआ है। मानव के जीवन हेतु प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण अनिवार्य है। श्रम से सौन्दर्य और जीवन-मूल्यों की नई प्रतिष्ठा होती है। लेकिन वर्ग-विभक्त समाज में श्रम का फल साधन-सम्पन्न वाले उच्च वर्ग के जन भोगते रहते हैं।

'क्रौंचवध' के नायक महर्षि वाल्मीकि की मूल चिंताएँ यही हैं। जब नारद से उनका संवाद होता है, तब वह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—
“पदार्थ की सत्ता अनंत है/ चेतना उसी का विकसित रम्य रूप है/ वही अक्षर है/ आत्मा/ विकसित होना उसका/ गुणधर्म है अंतरंग।” (पृ. 31)

वाल्मीकि अतीन्द्रिय सत्ता के प्रति अनास्थावान् है। जो कुछ इन्द्रिय-गोचर है, वही जानने-समझने योग्य है। उसे ही कृति के रूप में रचा जाता है। लेकिन प्रश्न यह है कि
“कहाँ खिल पाए हैं/ प्रकृति के रहस्य सब/ पल-पल उदित होता नक्षत्र ज्ञान का/ इन्द्रियों से होता बोध/ सत्ता का/ क्षुधा होती तृप्त अन्न से/ घटित होते क्षणों की पदार्थता अटूट है।/ इसी में दिया है/ आत्मा की दिव्यता का आलोक कहीं।” (पृ. 32)

वह परिवर्तन का नियम मानते हैं। बीज नष्ट होकर वृक्ष का रूप धारण करता है। ऋतुएँ आती हैं, जाती हैं। वह यह नहीं मानते हैं कि सुख-दुख अथवा दुर्भाग्य-सौभाग्य विधाता की महालीला है। लेकिन यह भ्रम है। वास्तविकता यह है कि
“समाज तो बनाया है/ मनुष्य ने/ कर्म तो नियंत्रित है/ तन्त्र से/ खेत में बोया बीज ही/ होता है अंकुरित/ उसके लिए पुरुषार्थ करता है कृषक ही/ रात-दिन।” (पृ. 29)

इस प्रकार वाल्मीकि श्रम को सम्मान प्रदान करके निठल्ले ब्राह्मणों की एवं सुविधाभोगी वर्ग की आलोचना

करते हैं। यह ठीक है कि उन्होंने क्रौंच नर के वधिक निषाद को अभिशाप दिया, लेकिन जब उन्हें मालूम होता है कि निषाद शिकार करके अपना पेट भरता है, तब वह और अधिक ग्लानि-ग्रस्त हो जाते हैं। और इस वास्तविकता से वो और भी व्यथित होते हैं कि राजा आखेट करते हैं। यह भी तो हिंसा है। इसका विरोध क्यों नहीं किया जाता है। इस प्रकार वह तनाव-ग्रस्त होकर सोचते हैं- “शाप देकर क्या किया मैंने/ खा रहा मुझे रह-रहकर अपराध-बोध/ ओह, क्यों नहीं जान पाया मैं/ निषाद भूखा और दुखी है/ राजा खेलता आखेट नित्य ही/ आनन्दित सुखी है” वह भूखा नहीं, प्यासा नहीं/ करता है जीव हिंसा अपने मनोरंजन को/ उससे कौन कहे/ करता हूँ छल अपनी कवि और काव्य से/ झेलता हूँ विभाजित मन का त्रास/ कैसा सामाजिक न्याय/ दुर्बल को ही मिलती है प्रताड़ना/ जग से/ मैं कवि हूँ/ क्यों नहीं खड़ा होता उसके पक्ष में/ और पर करूँ क्या/ उतरता नहीं चित्त से क्रौंच मिथुन/ खा रहा मुझे मेरा आभिजात्य/ मेरा अहंकार।” (पृ. 133,134) कहने की आवश्यकता नहीं है कि विजेन्द्र ने अपने नायक को समकालीन कवि के रूप में कल्पित करके इस ज्वलंत प्रश्न का उत्तर तलाशा है कि आज का बड़ा कवि सत्ता की जन विरोधी नीतियों का विरोध क्यों नहीं करता है। वह जन पक्षधर क्यों नहीं है। वह सत्ताधारी का सौन्दर्य-बोध क्यों स्वीकारता है। विजेन्द्र ने वाल्मीकि के विभाजित मन का निरूपण कलात्मक ढंग से करके उन्हें अन्ततः लोकोन्मुखी कवि के रूप में प्रदर्शित किया है। अतः वह अपने शिष्य कुमारिल से कहते हैं कि कवि “जिए अडिग सत्य को/ जन के पक्ष के न्याय को/ उबर सके अपनी तुच्छताओं से/ करे रक्षा अपने देश और समाज की/ रचे नए मानव-मूल्य जीवन में।” और “कवि को उठाने पड़ते हैं जोखिम सदा/ अन्त में होता है विजयी/ सदा जन-संघर्ष ही।” (पृ. 202-203)

वर्तमान काल में समाज का सत्य यही है कि कोटि-कोटि दुखी जनो की शक्ति संगठित होकर विजय प्राप्त करके यथास्थिति का खंडन करे।

‘क्रौंचवध’ काव्यनाटक कवि विजेन्द्र के नाटक-अनुराग की कलात्मक अभिव्यक्ति है। लयात्मक संवादों के माध्यम से काव्य-नायक एवं अन्य पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य

उद्घाटित करते हुए भौतिकवादी विचारों का समावेश सहज ढंग से किया गया है। संवादों का मंथर गति से भाव और विचार अनायास व्यक्त होते हैं। भरद्वाज पात्र कवि का अन्तः रक्षक है। और अन्य पात्र भी प्रासंगिक हैं। सूत्रधार और विदूषक सामयिक जीवन के रूप अभिव्यक्त करके अतीत को वर्तमान से जोड़ते हैं। नाटक में ब्रह्मा की उपस्थिति प्रतीकात्मक है। वह संशय-ग्रस्त वाल्मीकि को समझाते हैं- “जितना करोगे विचार स्वयं से मुक्त हो/ जीवन की घटनाओं पर/ प्रकृति का सान्निध्य होगा घना/ आएगी सक्रियता भाव में/ वही देगा विश्व-दृष्टि।” (पृ 187)

इस प्रकार काव्य के केन्द्र में देवताओं के स्थान पर कर्मठ और संघर्षशील मानव राम की प्रतिष्ठा ‘रामायण’ में की गई है। और समकालीन कविता में भी राम जैसे कर्मठ जन-नायकों को कविता के केन्द्र में स्थापित करने की आवश्यकता है।

मेरी अपनी सीमित जानकारी के अनुसार आधुनिक हिंदी कवियों में से किसी भी समर्थ कवि ने न तो अग्नि पुरुष पर और न ही क्रौंचवध पर अपनी निपुण लेखनी का अनुग्रह किया है। अतः विजेन्द्र के दोनों उपर्युक्त काव्य नाटक अद्वितीय हैं। इन नाटकों में दृश्य-परिवर्तन औचित्यपूर्ण हैं। क्योंकि “ये अहसास कराते हैं कि अभी-अभी के दृश्य में संघर्ष की जो दास्तान पौराणिक संदर्भों में देखी जा रही थी, दरअसल वे सभी संदर्भ तो आज के ही हैं।” नाटक को वर्तमान से जोड़ने के लिए विजेन्द्र अपने जनपद के श्रमजीवियों को ही बार-बार रूपायित करते हैं। और उन्हें अपनी बात कहने का अवसर भी प्रदान करते हैं।

राजतंत्र के युग में राजा अथवा गुरु अथवा ऋषि के सामने मुँह खोलने का साहस निम्न वर्ग नहीं कर सकता था। लेकिन ‘क्रौंचवध’ में कवि ने, अपने लोकतांत्रिक युग के अनुरूप, उस निषाद को अपनी बात कहने का अवसर प्रदान किया है। जब ऋषि वाल्मीकि क्रौंचवध से क्षुब्ध होकर निषाद को फटकारते हैं, तब वह अपना पक्ष समझाते हुए कहता है- “यदि मैं पापी, दुराचारी हूँ/ आखेट करने से/ तो राजा और प्रभुओं को तो कहो ऐसा/ वे भी तो हैं दुष्ट, पापी और दुराचारी/ करते हैं वन में आखेट भारी।” (पृ. 71)

यह सुनकर वाल्मीकि और क्रुद्ध होते हैं, लेकिन स्वगत

रूप में सोचते हैं- “*फिर क्यों करता है हिंसा निरंकुशता से/ क्यों नहीं उस पर अंकुश हो।*” संक्षेप में कह सकते हैं कि लयात्मक मुक्त छंद, गीतों, भाव-व्यंजक संवादों से युक्त इस काव्य-नाटक की भाषा परिष्कृत एवं पात्रानुकूल है। चिंतन-मनन, तर्क-वितर्क, विषाद-हर्ष, श्रम-उल्लास, अन्तर्द्वन्द्व, प्राकृतिक परिवेश के सौन्दर्य, करुणा-क्रोध से समन्वित यह काव्य नाटक समकालीन कविता की विशेष उपलब्धि है। इस संश्लिष्ट कृति में विजेन्द्र अपनी काव्य-यात्रा में एक और नया पड़ाव पाठक के सामने उपस्थित करते हैं। यद्यपि यह काव्य नाटक पाठ्य है, तथापि यह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। दृष्टि-सम्पन्न नाट्य-निर्देशक प्रशिक्षित अभिनेताओं और संगीत के सहयोग से इसे मंचित कर सकता है।

काव्य-नाटक केवल पाठ्य नहीं होते हैं। उनके मंचन भी किए जाते हैं। प्रसंगवश मुझे ‘उर्वशी’ का स्मरण हो रहा है। ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने के बाद ‘उर्वशी’ का मंचन भी किया गया था शायद। दिनकर की इस नाटकीय कृति पर काफी विवाद भी हुआ था। ‘कल्पना’ पत्रिका इसका प्रमाण है। दिनकर की कृति की शैली नाटकीय जरूर है। लेकिन इसके काव्यात्मक संवादों में लघुता बहुत कम है। लेकिन इस कृति कि नायक-नायिका हैं पुरूरवा और उर्वशी जो कामाध्यात्म दर्शन की वकालत करते हैं। यह जीवन-दर्शन भारत जैसे विकासशील राष्ट्र के लिए उपयुक्त है? नहीं! यह प्रश्न मुक्तिबोध ने उठाया था। उनका तीखा सवाल था कि ‘दिनकर ‘लाइन’ की पैरवी क्यों कर रहे हैं? क्या मंशा पर शक करना गलत है? कौन है वे प्रज्ञावान् भोगी, जिन्हें रति-सुख की चरम परिणति में अतीन्द्रिय सत्ता से साक्षात्कार होता है? क्या वे इस समय भारत में

उपलब्ध हैं? और क्या उनके लिए काव्य का सृजन किया जाना चाहिए, किया जा सकता है। राष्ट्रकवि दिनकर जवाब दें।” (विवेक के रंग, स. देवीशंकर अवस्थी, पृ. 48)

मुक्तिबोध के इस तीखे सवाल से दिनकर परेशान अवश्य हुए होंगे। यह प्रश्न दिनकर को सत्तामुखी कवि घोषित कर रहा है। इस आलोचना को दृष्टिगत रखते हुए हम विजेन्द्र के दोनों काव्य नाटकों का महत्त्व आसानी से समझ सकते हैं। विजेन्द्र आज तक सत्ता से समझौता नहीं किया है। वह आज भी मार्क्सवादी हैं। लेकिन जो मूर्धन्य मार्क्सवादी समझे जाते थे, वे आज पथ से विचलित हो गए हैं। यह दुर्भाग्य है हिंदी आलोचना का।

नाटक और काव्य नाटक का महत्त्व नाट्य निर्देशक समझ सकता है। अशोक तिवारी नाट्य निर्देशक हैं। और अभिनेता भी। साथ-ही-साथ लोकधर्मी कवि भी। अतएव उनके अभिमत का उल्लेख अनिवार्य समझते हैं।

अपना निष्कर्षात्मक अभिमत व्यक्त करते हुए अशोक तिवारी ने ठीक लिखा है कि “निस्संदेह सघन अँधेरे में उजास की एक किरण एक कण खोजता हुआ ‘अग्निपुरुष’ और ‘क्रौंचवध’ का कवि पूर्वजों की पगडंडियों से होता हुआ इतिहास की अनिवार्यता की पुनर्खोज करता है। वर्तमान के संदर्भ टटोलता है। साथ ही उर्वर धरती, आकाश और जल के संसर्ग से एक युग बीज रोपता है, जो अजस्र नवीनतम स्रोतों की खोज करेगा। ये कोशिशें सृष्टि में भरी पड़ी हैं। हमारे पूर्वजों ने भी इस तरह की तमाम कोशिशें की थीं..... यकीनन हमें उन पगडंडियों की तलाश करनी है, जो मानव को मानव के साथ प्यार करना सिखाएँ। जात-पाँत, धर्म-अधर्म, छूत-अछूत, अमीर-गरीब आदि के बीच विभेद कर सकें।” (बूँद तुम ठहरी रहो, पृ. 31)

संपर्क :

18/78ए, अपोजिट सितारा बिदी एजेंसी चूना मंडी,
बदायूँ- 243601, मो. 09897482597

अमीर खुसरो : आदिकाल के आमंजस्यवादी कवि

सुलेखा कुमारी

शोध-छात्रा, कलकत्ता विश्वविद्यालय

अमीर खुसरो आदिकाल का सबसे सरस नाम है। यह नाम लोक परंपरा में स्वयं इतना जाना माना रहा है कि लोक-निर्णय को सराहते हुए सभी इतिहासकारों ने इन्हें आदिकाल के प्रमुख साहित्यकार के तौर पर स्थान दिया है। लोक परंपरा में जीवित रहने वाले अमीर खुसरो खड़ी बोली हिंदी के प्रथम गायक माने जाते हैं। अमीर खुसरो बहुमुखी ही नहीं अन्तर्विरोधी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। 'विरुद्धों का सुंदर सामंजस्य' खुसरो के व्यक्तित्व में हैं। वे फ़ारसी साहित्य, दर्शन, इतिहास, संगीत, लोक-साहित्य के ज्ञाता होने साथ-साथ भाषाविद् भी थे। उनमें एक विचित्र प्रतिभा यह थी कि वे निजामुद्दीन औलिया के परम मुरीद थे, जिन्होंने गुरु की मृत्यु के कुछ दिनों बाद अपने भी प्राण त्याग दिये, किंतु साथ ही इस सूफी संत ने राजदरबार की शोभा भी बढ़ाई। राजाओं के साथ जिसकी रोज उठ-बैठ हो और जो राजाओं की प्रशंसा में कसीदे पढ़े, ऐसा दरबारी कवि सूफी-साहित्य का भी परम साधक था। ऐसा साहित्यकार जो एक ओर पुष्प से भी नाजुक राग-रागिनियों की रचना संगीत में करता हो, वह स्वयं युद्ध में भी भाग ले। एक ओर जो अरबी-फ़ारसी का महान विद्वान हो वहीं दूसरी ओर स्वयं को हिंदुस्तान और हिंदवी से जोड़ने की ऐसी ललक कि स्वयं को 'हिंदुस्तान की तूती' कहे और हिंदवी की मिठास को अरबी फ़ारसी से अधिक बताये। दरबार को लोक-साहित्य से जोड़ने वाले खुसरो ने यह सिद्ध कर दिया कि महान् विभूतियों के लिए न तो कभी जाति बाधा बन पायी है और न भाषा।

अमीर खुसरो का असल नाम 'अबुल हसन' था। 'अमीर' और 'खुसरो' ये दोनों ही उपाधियाँ हैं जो इन्हें तत्कालीन शासकों ने दी। दरबारियों के बीच 'मलिककुशोअरा अमीर खुसरो' नाम से प्रसिद्ध खुसरो का जन्म सर्वमान्य रूप से 1253 ई. और मृत्यु 1325 ई. मानी जाती है। यह भी सर्वमान्य है कि यह जाति से तुर्क थे। इनके पिता सैफुद्दीन महमूद, तुर्किस्तान के लाचीन कबीले के एक सरदार थे, जो मुगलों के अत्याचार से भारत आकर बसे। यहीं अल्लुतमश के दरबार में इनके पिता उच्च सैन्य पद पर नियुक्त हो गये। अपने पिता के समान ही खुसरो की पदवी भी दरबार में बहुत ऊँची थी। इन्हें सात सुलतानों के दरबारी रहने का गौरव प्राप्त हुआ।

अमीर खुसरो का हिंदी साहित्य में भाषा की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। खड़ी बोली हिंदी को सर्वप्रथम अपनी रचना का माध्यम बनाने वाले खुसरो के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं, "वीरगाथा काल के समाप्त होते-होते हमें जनता की बहुत कुछ असली बोलचाल और उनके बीच कहे सुने जाने वाले पद्यों की भाषा के बहुत कुछ असली रूप का पता चलता है। पता देने वाले हैं दिल्ली के खुसरो मियाँ और तिरहुत के विद्यापति।"¹

जनभाषा हिंदी को 'हिंदवी' का नाम भी सर्वप्रथम खुसरो ने ही दिया। इनके द्वारा विरचित कुल ग्रंथों की संख्या 100 के ऊपर बतायी जाती है; जिनमें से आज बहुत कम ही उपलब्ध हैं। गुर्रतुल कमाल, निहायतुल कमाल, किरानुस्सादैन, खिज्र खाँ व देवलरानी, नुहसिपहर, तुगलकनामा, खालिकबारी आदि इनकी महत्त्वपूर्ण फ़ारसी में रचित कृतियाँ हैं। इनमें खालिकबारी का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसे एक शब्दकोश के तौर पर तैयार किया गया है जिसमें फ़ारसी और हिंदी के समानार्थक शब्द हैं। यह कहावत प्रचलित है कि अलाउद्दीन के कहने पर ही फ़ारसी पढ़ने-लिखने वालों को हिंदी का ज्ञान कराने हेतु इसका निर्माण हुआ और बड़े पैमाने पर गाँव-गाँव इसका वितरण हुआ।

“एक लाख ऊँट सवा लाख गारी
तिस पर लादी खालिकबारी।”¹²

यह शब्दकोश भी खुसरो के हिंदवी ज्ञान का अच्छा प्रमाण है। गुर्रतुल कमाल की भूमिका में खुसरो ने एक ऐसा शेर लिखा है जो हिंदी और फारसी दोनों का हो सकता है।

“आरी आरी हमा बियारी आरी
मारी मारी बिरह की मारी आरी।”¹³

गार्सा-द-तासी ने अपने इतिहास ग्रंथ में खुसरो की लखनऊ के तोपखाने में रखी कुछ हस्तलिखित प्रतियों से उदाहरण दिये हैं जिससे यह स्पष्ट है कि खुसरो में खड़ी बोली हिंदी के पूर्ण चिह्न विद्यमान हैं। यह रचना अनुपलब्ध है। तासी उद्धृत करते हुए भोलानाथ तिवारी ने खुसरो की निम्न पंक्तियों को अपनी पुस्तक में इस प्रकार दिया है—

“पंसारी का तेल/ कुम्हार का बर्तन/ हाथी का सूँड/
नवाब का पताका— दीपक”¹⁴

यह निश्चित ही खड़ी बोली है। सुदर्शन चोपड़ा ने अपनी पुस्तक ‘अमीर खुसरो परिचय और कविताएँ’ में इनकी कुल तीन हिंदवी रचनाओं का उल्लेख किया है— 1. खालिकबारी 2. हालात-ए-कन्हैया 3. नजरान-ए-हिंदी। इन तीनों में से खालिकबारी ही आज उपलब्ध है। अतः खुसरो के हिंदवी काव्य के लिए हमें उपरोक्त पुस्तकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। लिखित तौर पर इनकी रचनाएँ अनुपलब्ध हैं यद्यपि लोक-साहित्य में खुसरो के नाम से जो मनोरंजन साहित्य मिलता है वह निश्चित तौर पर हिंदी के प्रथम चिह्न का सूचक है।

लोक-परंपरा में खुसरो द्वारा रचित जो मनोरंजन साहित्य प्रसिद्ध है उनमें पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सखुने, निस्बतें आदि को संग्रहित कर प्रकाशित करने का कार्य कम ही हुआ है। इसमें जवाहरे-खुसरवी और ब्रजरतन दास की पुस्तक ‘खुसरो की हिंदी कविता’ प्रमुख है। गोपीचंद नारंग ने इधर अमीर खुसरो पर उल्लेखनीय कार्य किया है। उन्होंने शिप्रंगर की बर्लिन प्रति को उद्धृत किया और 144 नयी पहेलियों की खोज की और उसे ‘अमीर खुसरो का हिंदवी काव्य’ नाम से प्रकाशित किया।

खुसरो की पहचान भले ही दरबारी कवि के तौर पर

हो पर उन्हें प्रसिद्धि लोक-कवि के रूप में मिली। इनका लौकिक साहित्य मनोरंजन से परिपूर्ण है जो आज भी लोक-जिह्वा पर सजीव है। इनकी पहेलियाँ आज भी मन को उतना ही आकर्षित करती हैं।

पहेलियाँ

“एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औँधा धरा
चारों ओर वह थाल फिरे। मोती उससे एक न गिरे।”⁵

(आकाश)

“अरथ तो इसका बूझेगा। मुँह देखो तो सूझेगा।”⁶

(दर्पण)

इनकी मुकरियाँ भारतेंदु युग में आकर पुनः साहित्य में अपना स्थान बनाती हैं। जैसे—

“मेरे घर में दीनी सेंध

दुलकत आवे जैसे गेंद

वाके आये पड़त है सोर

ऐ सखि साजन न सखि चोर”⁷

इनके द्वारा रचित दो सखुना भी लोक में उतना ही प्रसिद्ध है। जैसे—

“रोटी जली क्यों, घोड़ा अड़ा क्यों, पान सड़ा क्यों?”⁸

उत्तर— फेरा न था

इन्होंने निस्बत अर्थात् संबंध जैसी अद्भुत रचनाएँ कीं—

“दामन और अंगरखे में क्या निस्बत है?”⁹

उत्तर— पर्दा

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक परंपरा में प्रसिद्ध खुसरो का लौकिक साहित्य हिंदी भाषा के विकास का सूचक है। इनकी भाषा में ‘ने’ का प्रयोग खड़ी बोली के उद्भव की सूचना देता है— ‘एक नार ने अचरज किया सांप मार पिंजरे में दिया’। भाषा सरल और सहज होने के साथ ही उक्ति वैचित्र्य और वाग्मितापूर्ण है, जो इनके साहित्य को जन-जन के करीब पहुँचाता है। अयोध्या सिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’ ने सही ही लिखा है, “यदि उन्होंने सबसे पहले बोलचाल की साफ-सुथरी चलती हिंदी का आदर्श उपस्थित किया तो शब्द भी तुले हुए रक्खे। न तो उनको तोड़ा-मरोड़ा, न बदला और न उनके वर्णों को द्वित्व बनाकर उन्हें संयुक्त शब्दों का रूप दिया। अपनी रचना में भाव भी वही भरे जो देश भाषा के अनुकूल थे।”¹⁰

अतः भाषा को नयी राह पर लाने वाले खुसरो ने अपने समय की जन-भाषा को सराहा, उसे प्यार किया और उसे नये रूप में संवारा। यह खुसरो से ही संभव हो सका कि उन्होंने फ़ारसी और हिंदवी का सुंदर सामंजस्य अपने साहित्य में किया।

खुसरो सामंजस्य के कवि:

खुसरो सूफी फकीर थे। अपने काव्य में उन्होंने प्रेम और विरह दोनों का चित्रण बखूबी किया है। प्रेम में दृढ़ता होनी चाहिए और प्रेम-पथिक को वेदना की अग्नि में जलकर ही सच्चे प्रेम की प्राप्ति होती है। खुसरो अपने जीवन के अनुभव से प्रेम की दृढ़ता का जो उदाहरण देते हैं वह हिंदू स्त्री का मृत पति के साथ चिता में जल मरने का है। खुसरो अपनी निम्न पंक्तियों में प्रेमी के साहस को हिंदू स्त्री के समान दृढ़ होने और विरह में जलने को भी तैयार रहने के लिए कहते हैं:

“खुसरो दर इश्कबाजी, कम जे हिंदू जन मबाश।

किज बराय मुर्दा सोजद ज़िन्दा जाने ख्वेश रा।।”¹¹

यह साधारण बात नहीं है कि फ़ारसी का इतना बड़ा विद्वान प्रेम की सबसे बड़ी मिशाल हिंदू स्त्री को मानता है। लोक और दरबार के बीच खुसरो ने जो झरोखा खोला वह दरअसल दो विपरीत संस्कृतियों, सभ्यताओं के मिलन बिंदु पर खड़े आदिकाल की परिस्थितियों में बहुत महत्वपूर्ण हैं। दो भिन्न संस्कृतियाँ एक ही वातावरण में पुष्पित हो रही थीं। खुसरो ने अपने समय का जिक्र करते हुए कहा है:

“शुद अज़ मोमिन बगर्दू बांग-ए-तकवीर

ज़ि ग़ब्र आवाज़ ‘नारायन’ हवा गीर।”¹²

इसका अर्थ है, यह वह समय था जब मुसलमानों की अज्ञान की आवाज आसमान की ओर जा रही थी और हिंदुओं के मुँह से ‘नारायण-नारायण’ का स्वर वातावरण में गूँज रहा था। कहना पड़ेगा कि ऐसा साहित्यकार जो अपने समय को भली-भाँति समझ रहा हो और जिसने दो विपरीत धर्मों के बीच भी एकता का सूत्र खोज लिया हो वह निश्चित ही लोक-जन के हृदय में वास करता रहेगा।

खुसरो अपने वतन हिंदुस्तान से प्रेम करते थे। इस कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में अपनी मातृभूमि का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है। अपने ग्रंथ नुहसिपहर में खुसरो

कहते हैं-

‘हस्त मरा मौलिद-ओ-मावा-ओ वतन’ (यही मेरा जन्म स्थान और यहीं मेरी मातृभूमि है)¹³

अपने ग्रंथों में खुसरो ने अपने वतन हिंदुस्तान की अनेकों प्रशंसा की है। इस पूरे संसार में उन्होंने हिंदुस्तान को पृथ्वी का स्वर्ग माना है। यहाँ के पक्षी, फल, पुष्प, विद्या, दर्शन के महत्व को उन्होंने अनेकों बार उकेरा है। खुसरो को उद्धृत करते हुए डॉ. मलिक मुहम्मद लिखते हैं “यद्यपि रोम और यूनान दर्शन और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध है तो भी भारत किसी तरह उनसे कम नहीं है। यहाँ तर्कशास्त्र, खगोलशास्त्र और आध्यात्मिकता का ज्ञान अधिक है। यहाँ का ब्राह्मण अरस्तू के कानून के कार्यालय की धज्जियाँ उड़ा सकता है। xxx मैंने इस सिलसिले में थोड़ी बहुत कोशिश की और उनके दिलों में राह पायी। मैंने अपनी पहुँच के अनुसार उनसे ज्ञान प्राप्त किया और इन्होंने मुझसे इंकार नहीं किया और उन्होंने मुझे अपना कृपा-पात्र बनाया।”¹⁴

उपरोक्त पंक्तियों में अमीर खुसरो ने भारत की समृद्धि और यहाँ के ब्राह्मणों की विद्वता का जिक्र किया है। ब्राह्मणों के ज्ञान की चर्चा करने और उनके संपर्क में रहने के कारण खुसरो को ‘बुतपरस्ती’ जैसे धार्मिक विद्रोह का भी सामना करना पड़ा। खुसरो को ‘बुतपरस्त’ (मूर्ति पूजक हिंदू) कहकर उनका अपमान भी किया जाता रहा जिस पर खुसरो ने यह प्रसिद्ध शेर पढ़ा-

“खल्क़ मी गोयद की खुसरो बुतपरस्ती मी कुनद

आरे-आरे मी कुनम बाखल्को आलम कार नेस्त।”¹⁵

अर्थात् संसार कहता है कि खुसरो बुतपरस्ती करता है। हाँ, हाँ मैं करता हूँ मुझे दुनियावालों से कुछ काम नहीं।

खुसरो ने स्वयं को हिंदुस्तान में जन्मा एक तुर्क कहा है जिसे अपनी मातृभूमि पर गर्व है। जिसे अपने राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा से प्रेम है। हिंदवी और लोक-जन की रुचिनुसार साहित्य रचने की प्रेरणा भी कदाचित्त खुसरो का राष्ट्र प्रेम ही रहा होगा। राष्ट्र से प्रेम करने के कारण खुसरो ने अपने लिए यह प्रसिद्ध उक्ति कही है।

तुर्क-ए-हिंदुस्तानेम मन हिंदवी गोयम चू आब।”¹⁶

इन पंक्तियों के अर्थ के साथ इनके भावों को भी समझना अति आवश्यक है। हिंदुस्तान में जन्मा एक तुर्क

जिसका मन हिंदवी में रमता है, ऐसे खुसरो को अगर आदिकाल का सामंजस्यवादी कवि कहा जाये तो यह उचित ही है। खुसरो जैसी प्रतिभाएँ यह सिद्ध कर देती हैं कि कला तो स्वयं में लोगों को जोड़ने का एक माध्यम बन जाती है जब कलाकार खुसरो जैसा प्रतिभावान हो।

भोलानाथ तिवारी खुसरो के साहित्य पर लिखते हुए कहते हैं, “खुसरो की कुछ फारसी रचनाओं में सांप्रदायिकता की गंध भी है। संभवतः अपने कुछ सांप्रदायिक आश्रयदाताओं के लिए लिखी गयी रचनाओं में उन्होंने ऐसा किया हो।”¹⁷ लेकिन भोलानाथ तिवारी ने खुसरो की ऐसी फारसी की पंक्तियों को उद्धृत नहीं किया है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि दरबार की आवश्यकतानुसार उन्होंने जहाँ शासकों की प्रशंसा में कसीदे कहे वहीं कुछ रचनाओं में सांप्रदायिकता की गंध हो सकती है। किंतु उनके विचार अनेक स्थलों पर ऐसे हैं जो उन्हें सामंजस्यवादी कवि के तौर पर उभारते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण इनका लोक-साहित्य है। आज भी ब्याह के वक्त खुसरो का यह गीत बड़े चाव से गाया जाता है—

“काहे को बियाहे विदेस

सुन बाबुल मोरे।

हम तो बाबुल तोरे बागों की कोयल,

कुहकत घर-घर जाऊँ

सुन बाबुल मोरे।”¹⁸

लोक निर्णय से बड़ा कोई निर्णय नहीं होता और इस कसौटी पर खुसरो लोक-जन के चित्त में वास करने वाले कवि है। आवश्यकता है खुसरो के साहित्य पर शोध-कार्य की जो अभी भी हिंदी में पूर्णरूप से नहीं हुआ है। उनकी रचनाओं के नाम भर ही प्राप्त हैं, उनके साहित्य की खोज, संशोधन और प्रकाशन हिंदी साहित्य को समृद्ध करेगा।

संदर्भ :

1. शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, विजय प्रकाशन मंदिर, वाराणसी, संस्करण 2008, पृ. 50
2. ब्रजरत्नदास, उर्दू साहित्य का इतिहास, श्रीकमलमणि

- ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, संस्करण 1934 पृ. 8
3. तिवारी, भोलानाथ, अमीर खुसरो और उनका हिंदी साहित्य, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985, पृ. 35
4. वही, पृ. 37
5. शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, विजय प्रकाशन मंदिर, वाराणसी, संस्करण 2008, पृ. 51
6. वही, पृ. 51
7. (सं.) चोपड़ा, सुदर्शन, अमीर खुसरो परिचय और कविताएँ, साहित्य संगम, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989, पृ. 103
8. वही, पृ. 115
9. वही, पृ. 122
10. हरिऔध, अयोध्या सिंह उपाध्याय, हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, किताब महल, इलाहाबाद, संस्करण 1958, पृ. 109
11. (सं.) डॉ. मोहम्मद, मलिक, अमीर खुसरो, भावात्मक एकता के अग्रदूत, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1975, पृ. 21
12. नारंग, गोपीचंद्र, अमीर खुसरो का हिंदवी काव्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2002, पृ. 33
13. वही, पृ. २४
14. (सं.) डॉ. मोहम्मद, मलिक, अमीर खुसरो, भावात्मक एकता के अग्रदूत, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1975, पृ. 84
15. चजुर्वेदी, सुलोचना, आचार्य वृहस्पति, खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1976, पृ. 95
16. नारंग, गोपीचंद्र, अमीर खुसरो का हिंदवी काव्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2002, पृ. 25
17. तिवारी, भोलानाथ, अमीर खुसरो और उनका हिंदी साहित्य, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985, पृ. 19
18. (सं.) चोपड़ा, सुदर्शन, अमीर खुसरो परिचय और कविताएँ, साहित्य संगम, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989, पृ. 49

संपर्क :

2, पी. बी. एम. रोड. चापदानी, पोस्ट-बैद्यबाटी, जिला-हुगली, पिन-712222, मो. 9749037418

मध्यकाल : रिनांसाओं और विषमताओं का संकुल

रमेश कुंतल मेघ

भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग

गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

एक के सम्पूर्ण होने पर ही तो मध्य आया। मध्य भी आदि तथा अंत- कहलें कि-आधुनिक या वर्तमान के बीच स्थित है। अतः यह काल गतिमान तथा परिवर्तनमान है; अनंत है तथा चिरंतन वर्तमान भी है।

तो महाकाल निरंतर गति तथा परिवर्तन के गुण वाला है। पृथ्वी द्वारा अपने अक्ष में सूर्य की निरंतर चिरंतन परिक्रमा करने से काल का नामकरण होता है। अर्थात् काल का प्रकल्पित विभाजन या इतिहास बनता है या कालखंड का रूप है। इस धारा प्रवाह में दिक (देश) सभ्यता तथा संस्कृति का विधान करती है। यह धर्म है। इस तरह आदि से अनंत तक नाम, रूप, गुण, धर्म का यहाँ चतुरंग है। हम बढ़ते-बढ़ते मध्य के कालखंड अर्थात् मध्यकाल को भी प्रायोजित करते हैं। जबकि काल तो पूर्णोत्तीर्ण होता चलता है। देश के घर का लक्ष्य, वृत्ति, वैशिष्ट्यपरक सामाजार्थिक 'सिस्टमों' की गति तथा परिवर्तन से हम काल विभाजन करते हैं। सो, दिशाएँ तथा लक्षण, प्रवृत्तियाँ ही उसे विभिन्न नाम देकर रूप-गुण-धर्म को संश्लेषित करती हैं : जैसे भारत में वैदिक युग, पुराण काल, हिंदू कालखंड, मुस्लिम कालखंड, अथवा कुषाणों का रिनांसाँ-गुप्तों का रिनांसाँ- अकबर का गंगा जमुनी रिनांसाँ- 19वीं सदी में ब्रिटिश शासन में बंगाल का आधुनिक रिनांसाँ; अथवा जनपदीय कबीलाई कालखंड से युक्त आदिकाल, सामंत युग, पूँजीवादी युग, निवेशी कालखंड, आधुनिक समय, आदि-आदि। तदपि रोमन ईसाई कैथोलिक विश्व दृष्टिकोण में ईसा मसीह के जन्म को धुरी या कील मानकर ई.पू./ई.प. (पूर्व-पश्चात्) परक काल विभाजन किया गया। इसके उपरान्त क्रमशः इटैलियन रिनांसाँ, प्रकाश्य जागरण (इनलाइटमेंट), फ्रेंच क्रांति- औद्योगिक क्रांतियाँ, रूसी क्रांति- चीनी क्रांति के अन्य ऐतिहासिक विभाजन के प्रस्थानक चक्र चिह्न बन गए। ऐसे में ईसा के बाद दूसरा ध्रुवांत आधुनिक यूरोपीय औद्योगिक क्रांति स्वीकृत हो गया।

सो काल विभाजन तथा नामकरण देश काल के बहुल ध्रुवांत हैं। इनके मध्य में ही विलक्षण सभ्यता-संस्कृति-इतिहास को विभाजित करके रूप-गुण-धर्म से समेकित करती है। यह अन्तर्विरोधों भरी प्रक्रिया है जो काल देश को शताब्दियों में रेखांकित करती है।

अतएव हम भारत के प्रमुख कालखंडों को लेते हैं— (ध्यातव्य हो कि सामाजार्थिक सिस्टम का तथा साहित्यिक उन्मेष के कालखंड एकान्वित नहीं हैं। उनकी अवधि में अंतर है।) बाद में हम मध्य काल के समग्र संदर्भ लेंगे— सामाजिक सम्यातामूलक एवं सांस्कृतिक—

ई.पू. 1000 भारत में लौह का आरंभ

ई.पू. 600 महाजनपदयुग, नृपतंत्रों का उदय

ई.पू. 563 वर्धमान तथा सिद्धार्थ का अभ्युदय
बौद्ध एवं जैन मतों का आविर्भाव

ई.पू. 139-57 शकों का आगमन

ई.पू. – ई. प. दक्षिण भारत में सातवाहन सत्ता, शैल गुफाओं तथा बौद्ध स्तूपों का निर्माण

ई. प. 144 मध्य एशियाई कुषाणों का युग : [दो राजधानियाँ (मथुरा तथा पुरुषपुर), मथुरा कला निकाय का प्रसुमन: बुद्ध, गंगा-यमुना, विष्णु आदि की सगुण-साकार प्रतिमानों का समारंभ, यक्षिनी-मिथकों की विविधता, 'कामसूत्र', 'नाट्यशास्त्र' का मानक स्वरूप प्रथम क्रांतिकारी रिनासाँ]

[140 से 320 तक का अंतराल]

ई. प. 320-600 गुप्त साम्राज्य का स्वर्णयुग, वैष्णवधर्म का प्रसार, क्लासिकी युग का शुभारंभ, चंद्रगुप्त का अभ्युदय, (सिंधु-मंथन की मिथक का उद्भव, भारतीय प्रचारकों तथा व्यापारियों का एशिया में प्रसार-प्रभाव, द्वितीय क्रांतिकारी रिनासाँ)

ई. प. 417 दिग्विजय पुत्र समुद्रगुप्त ने शकों को परास्त करके विक्रमादित्य की पदवी प्राप्त की, चीनी यात्री फाह्यान का भ्रमण, कालिदास, अमरसिंह हुए, अजंता कला की विभावना

ई. प. 480 श्वेत हूणों द्वारा गुप्त-साम्राज्य का खात्मा तथा पंजाब कश्मीर पर कब्जा

ई. प. 600-630 दक्षिणापथ में कई नृपतंत्रों का अभ्युदय: चालुक्य (510-1198, 10-15वीं शती), (पल्लव 650-850), चोल (900-1150), पांड्य (1150-1350), होयसल (12-13वीं शती), विजयनगर (1336-1565), मदुरै (1600-1700), राष्ट्रकूट (755-973)।

(कांचीपुरम के पल्लवों ने महाबलीपुरम में शैव-

वैष्णव संगम किया। चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों ने इल्लुरा तथा ऐलिफेंटा के शिलाकाट मंदिरों का निर्माण कराया। दिग्विजयी चोल राजा राजेंद्र द्वारा साम्राज्य विस्तार। उसके समय में वास्तुकला तथा कांस्य-मूर्तियों का उत्कर्ष। विजयनगर में विरुपाक्ष की पूजा। चोलों ने 'तमिल पुनर्जागरण' को व्यापक बनाया।)

ई. प. 11-13 शती- ओडिशा के गंग तथा केसरीवंश द्वारा जगन्नाथ रथयात्रा, कोर्णाक एवं पुरी के भव्य मंदिरों का निर्माण

ई. प. 10-12 शती- मध्यकाल के चंदेल वंश द्वारा खुजराहों का मंदिर समूह,

ई. प. 730-1197- बंगदेश के पाल सम्राट (तांत्रिक मतों का प्रभाव)

ई. प. 1001- तुर्क तथा अफगान शासन की स्थापना

ई. प. 1102 - पृथ्वीराज चौहान की गौरी द्वारा पराजय

ई. प. 1526 तैमूर खानदान के बाबर का हमला। इसी कड़ी में विशाल मुगल-साम्राज्य की स्थापना। गुरुनानक ने बाबरवानी की रचना की।

ई. प. 1556-1661 मुगल शहंशाह अकबर के काल में- तृतीय क्रांतिकारी रिनासाँ, अकबर से शाहजहाँ तक का समृद्ध सशक्त शासन। (भक्तिकाल तथा रीतिकाल की सामंतयुगीन मध्यकालीन संस्कृति। भक्त कवियों, संतों, सूफियों के सृजन, फतेहपुर सीकरी, लाल किला तथा ताजमहल का निर्माण)

ई. प. 1600 इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी का चार्टर मंजूर तथा अन्य औपनिवेशिक यूरोपीय ताकतों द्वारा भी दखलंदाजी।

ई. प. 1675-1708 गुरु गोबिंद सिंह, इस अवधि में राजस्थानी कलम और मुगल कलम का अन्योन्याश्रय।

ई. प. 1857 प्रथम भारतीय जंगे-आजादी

ई. प. 1800-1930 रीतिकाल के अंतिम महानकृति रत्नाकर, पद्माकर, भारतेन्दु, गालिब

ई. प. 1860 मध्यकाल का अवसान।

इतिहास लेखन शास्त्र (हिस्टोरियोग्राफी) में तो काल निर्धारण (पीडियेडाइजेशन) की एक दुरूह समस्या है क्योंकि विभिन्न अनुशासन, विभिन्न शासन, विभिन्न आंदोलन

आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न कालखंड हो जाते हैं।

इस वजह से भी हम हिंदी-चक्र चिह्न में घिसी-पिटी बातों को नहीं दोहराएंगे। नाना पुस्तकों, पाठ्य इतिहासों, आलोचनाओं में उन बातों की बारंबार तोता रटत होती आ रही है। अतः हम समाज सांस्कृतिक आयामों का ख्याल रखते हुए आंदोलनों, शासकों, प्रशासनों, लोकजीवन, महानायकों आदि के प्रस्थान, प्रतिरोध, उन्मेष पर केन्द्रीभूत होंगे। इसलिए हमने भारतीय इतिहास के कालखंडों की यह सूची दी है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में हम शकों के आगमन (ई.पू. 139-57) के पश्चात मध्य एशियाई कुषाणों (ई.पू. 144) से मध्यकाल की अगवानी मानते हैं जब क्षत्रपी एवं कबीलाई सिस्टम, दास प्रथा तथा निर्धारित कृषकियता घुलमिल रहे थे। क्षत्रपी अभिजनीन तथा नागरीय-ग्राम्य ने सत्ता तथा संगठन से साकार ईश्वरीय तथा बौद्ध यायावरीय प्रवृत्तियों ने सामंतीय मध्यकाल का आगाज किया। कुषाणों की दो राजधानियाँ (मथुरा तथा पुरुषपुर अर्थात् पेशावर) और महायान बौद्ध वैश्विक दृष्टि से पूर्ण संघ-संगतियों ने विचारों को भी भौगोलिक प्रसारण दिया।

हम इसे प्रथम क्रांतिकारी रेनांसाँ मानते हैं। दो राजधानियाँ बनीं। काश्मीर में प्रथम बौद्ध संगति का आयोजन हुआ। मथुरा कला निकाय का प्रसुमन हुआ। लोकधारा की मुक्त नारियों-यक्षिणियों-तथा यक्षों को वन और अंचलों का दायित्व दिया गया। इसी क्रम में शिल्प चक्र में बुद्ध, गंगा-यमुना देवियों, विष्णु आदि की मूर्तियाँ लक्षणों, लाठियों से साकार होकर बनीं। इसी के साथ 'कामसूत्र' तथा 'नाट्यशास्त्र' द्वारा मानक प्रतिमान बने व प्रचलित हुए।

इस अद्भुत, अप्रत्याशित, आकस्मित परिवर्तन को तत्कालीन भारत तत्परता से अभिग्रहीत नहीं कर पाया था। सो 140-320 तक का सुदीर्घ अंतराल पसर गया था। यह इतिहास की अनसुलझी पहली है। यह मध्यवर्गीय (मिडिल) समय पहली कायम है।

इसलिए कुषाणों के प्रथम क्रांतिकारी रेनांसाँ के बाद करीब तीन सौ वर्षों का अंतराल (ई.पू. 140-320) रहा। 'मध्यवर्गीय (मिडिल) समय' ?

इसके बाद सहसा एक प्रबल धमाकेदार सामाजार्थिक-

राजनीतिक विस्फोट के रूप में वैशाली के गुप्तों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने एक सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना की जो 'गुप्तों के स्वर्णयुग' (ई.पू. 320-600) के स्वरूप में जाना जाता है।

यह भारत का द्वितीय क्रांतिकारी रेनांसाँ भी है। मौर्यों के परम भागवत गुप्त सम्राटों ने दिग्विजय करके एक विशाल भारत देश की एकैक सत्ता की पुनर्स्थापना की। उन्होंने वैष्णव धर्म का प्रसार किया। अवतारवाद की सर्वव्यापी आस्था में विष्णु-राम-कृष्ण के साथ तथागत बुद्ध भी अवतारों में शामिल हो गये। चंद्रगुप्त एक महान सम्राट थे। विराज संस्कृति का सहस्र दल कमल पूरा खिल गया। भारतीय भट्टार गुरु, महानाविक, धर्माचार्य, सेनापति, व्यवसायी आदि ने दक्षिण पूर्व एशिया में फैलकर 'वृहत्तर भारत' को स्वरूप दिया। वैभव, खुशहाली, विभिन्न कलाओं, दर्शनों आदि का उत्कर्ष हुआ। हम कह सकते हैं कि क्लासिकी युग का शुभारंभ हो गया।... इसका प्रतिकायन समुद्र मंथन की मिथक के उन्मिलन में हुआ जो सत्ता के विस्तार, संस्कृति की विविधता, नयी-नयी प्राप्तियों तथा उपलब्धियों को अभिप्रायित करती है।... इसी के प्रमाण इंडोनेशिया का बोरोबुदुर का स्तूप, कंबोडिया के अंगोकोरवाट का विष्णु-बुद्ध मंदिर, थाई देश का द्वितीय सुखो थाई अयोध्या के रूप में निर्माण आदि आज भी मौजूद हैं।

समुद्री यात्राओं द्वारा व्यापार तथा भूगोल के विस्तार के साथ दिग्विजयी समुद्रगुप्त ने शकों को परास्त करके विक्रमादित्य की पदवी ग्रहण की। इसी काल में चीनी बौद्ध फाह्यान भारत आये। इसी स्वर्ण युग में कालिदास तथा अमरुशतक के रचनाकार अमर सिंह हुए। अथच अजंता की भी विभावना परिपूर्ण हुई। आखिर ई.पू. 480 में श्वेत हूणों द्वारा गुप्त साम्राज्य का खात्मा तथा कश्मीर पर कब्जा कर लिया गया। किंतु इस द्वितीय रेनांसाँ की बहुविध छायाएँ शताब्दियों से झिलमिलाती आ रही हैं। गुप्तों के काल में मध्यकालीन सामंतवाद जिस सिस्टम की परिपूर्णता को प्राप्त हुआ आगामी सदियों तक चालू रहा। (यह उपक्रम सम्राट हर्षवर्धन तक जारी रहा ई.पू. 900)।

अब परवर्ती इतिहास-चक्र का उक्त सूची में अवलोकन करें।

ई.पू. 1000 में तुर्कों तथा अफगानों ने हमले करके अपने शासन स्थापित किए। दो सभ्यताओं, संस्कृतियों, धर्मों, आर्थिक संबंधों, प्रशासनों आदि के बीच प्रबल संघर्षी अंतर्विरोध (कंटेडिक्शन) प्रकट हुए। ई.पू. 1526 में तैमूर खानदान के बाबर का हमला हुआ। इससे मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। महान मुगल सम्राट अकबर के काल में तृतीय क्रांतिकारी रेनांसाँ की शुरुआत हुई। अकबर से शाहजहाँ तक एक समृद्ध सशक्त शासन चला। गंगा-जमुनी सभ्यता का आगाज हुआ।

ई.पू. 1001 से समेकित हिंदी क्षेत्र वाले उतरापथ में मध्यकाल का बहुल, विशिष्ट, विलक्षण स्वरूप बनता चला। हिंदी साहित्य के इतिहास में इसके अन्तर्गत उसे भक्तिकाल तथा रीतिकाल कहा जाता है। इस काल में अकबर, शाहजहाँ की कोष्ठक धुरी में अभीशरण करना होगा। धुरी के अर्धव्यास में 1. चित्रकला की मुगल कलम (जो जहाँगीर के शासन में परवान चढ़ी) 2. वास्तु निर्माण के आश्चर्य, फतेहपुर सीकरी (और शाहजहाँ के काल में लाल किला तथा ताजमहल में उत्कर्ष को सिद्ध करते हैं) 3. तीसरे अर्द्धव्यास में एक ओर बादशाहों के 'नामा', दिनचर्याएँ (आइने-अकबरी) लिखी गईं तो दूसरी ओर लोकभूमि पर सूफी फकीर शायरों के प्रेमाख्यान तथा ब्रज-अवधी के संतों भक्तों के महाकाव्य, पद, साखी, सबद आदि रचे गए। ये ही इस रेनांसाँ के त्रिकोण हैं। तथापि धुरी से हमें अवसरण करके आले दुआले भी संदर्शन करना वांछनीय है। मुख्यतया आगे प्रेम (मिलन-विरह), शृंगार (नखशिख-बारहमासा), घर और शयनकक्ष की चंचलताएँ बेधड़क चमकना चमत्कृत करना, चिढ़ाना शुरु करने लगती हैं। जिनको लंबी शिखाओं तथा भोंथरी तलवारों वालों ने 'रीतिकाल' कहकर अवमूल्यांकित कर डाला। वास्तव में यह उत्तरमध्यकाल युवक-युवतियों का सदेह और शैय्याकक्ष का भी अंतरंग, प्राइवेट, बंधनमुक्त, निर्भीक दर्पण तथा दीपक है। कोरी रूढ़ि तथा रीति कहकर इसे खारिज करना या नकारना आज प्रतिगमन है यह घर बाहर के आवरण ढँकी दैनिक जिंदगानी का प्रेम शृंगार वाला ललित भागवत है। अब तो हमें इसे स्वीकारना अनिवार्यता ही होगी। ऐसे मनोहर उन्मादक चित्र तो रीतिकाल के पहले माने प्रतिबंधित

से हो गये थे। निर्भीक सही पकड़ तो राहुल सांकृत्यायन ने की है जो सामंतवाद के साथ-साथ साधारण ग्रामीणों-गृहस्थजनों को भी शामिल करते हुए इसे "सिद्ध-सामंत काल" की सही प्रसिद्धि देते हैं। ऐसे बड़े कैनवास पर मध्यकाल को अंकित करके ही हम नाथ-सिद्धों के सरहपाद, महासुखवादियों की इहलौकिक सदेह स्वर्ग प्राप्ति, लोकायतियों की सहज स्वव्यवहारिक जिंदगी का जीवना भी शामिल करते हैं। जीवन गति भी कवित्त-सवैय्यों जैसी हो गयी।

इस तरह मध्यकाल का धुरी चक्र पूरा घूम जाता है अर्थात् मुगलों से पहले तक तथा ब्रिटिश उपनिवेश स्थापना के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक पद्माकर, भारतेन्दु, गालिब को नमस्ते, दस्वेदानिया, सानोपारा कहने तक।

नतीजन ऐसा मध्यकाल छठीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक व्याप्त हो जाता है। मध्यकालीन मनुष्य के चिंतन तथा समाज सांस्कृतिक संबंधों में काया बनाम आत्मा, इहलोक बनाम परलोक, माया बनाम ब्रह्म (निर्गुण, सगुण) के बीच माने एक निरंतर प्रतिद्वंद्विता छिड़ी जिसमें अमरता तथा आनंद, विकारहीनता तथा शुचिता, सत्य तथा चैतन्य चरम मूल्य हैं। इनसे सामाजिक यथार्थता का परिदृश्य चकनाचूर हो गया। उक्त परम मूल्यों के प्रतिपक्ष के दूजे आयाम भौतिक यथार्थ, दैनिक जीवन के मूल्य नश्वर, दुखपूर्ण, बंधनयुक्त, पापपूर्ण मान लिये गये। जगत मिथ्या हो गया तद्वि भक्त का लोकमंगल की सिद्धि तथा साधना वाला पक्ष उसे विरोधी शक्ति भी प्रदान करता है। साथ में अवतारवाद तथा लीलागान अपनी गहराई में सामाजिक सारत्व भी उद्घाटित करते हैं— लोकचित्त की सामान्य भूमि पर। इससे भक्ति एक जन-आंदोलन तथा सांस्कृतिक रिनांसाँ होकर अग्रगामी हो गयी। मध्यकालीन संतों योगियों सूफियों का रहस्यवाद दस्तकारों तथा निम्नवर्गों को जीवन का अर्थ देता है। निर्गुणियों नवोद्धारक मनावतावाद दुर्जनियों, धूर्तों, पाखंडियों, मुल्लाओं-पुरोहितों की धज्जियाँ उड़ाता है। अर्थात् सूफियों की इश्क मजाजी तथा इश्क हकीकी सगुण कृष्ण धारा के महाभाव तथा महामुद्रा को एक जैसे पैरामीटर पर ले आती है। अद्भुत महामिलन की समानांतरता है।

निर्गुण संतों की प्रतिवादी धारा से पृथक एवं समानांतर मध्यकाल में महासुखवादी सरहपाद की धारा भी भौतिकवाद

एवं सहज जीवन का प्रसार करती थी। इस आंदोलन में भी कई नाथों तथा सिद्धों की परंपरा भी चली। हम पीछे मुड़कर इसका संदर्श आगे करेंगे।

फिलहाल हम उत्तर मुगल काल के साहित्य में रीतिकालीन इयत्ता (इयॉस) को लेते हैं।

समाजशास्त्रीय इतिहास लेखन-प्रकर्म में दिव्य तथा पवित्रतावादी दृष्टिकोण बेहद कठिन पहेली है। रीतिकला-संदर्श को (ऐसे में पवित्रता से) च्युति भी माना जाता रहा। फलतः वह पाप अथवा नैतिक पतन के आतंक में देहभाषाओं का खंड खंड करती नजर आई। यही बीच का रास्ता है। शाहजहाँ से शुरु उत्तरवर्ती मुगल युग (1605-1857) के कालचक्र में एक तीली रीतिकाल (1627-1800) की है। इसे ध्यान में रखा जाय। भक्ति के पश्चात रीतिवाद (मैनरिज्म) का विस्फोट हुआ। जिससे सौन्दर्य एवं शृंगार और भोग परिव्याप्त से हो गये। तदपि एक महाप्रश्न सुलगता रहा कि क्या रीतिकाव्यकला अश्लील है? फिर पूर्ववर्ती 'गाथा सप्तशती', 'आर्यासप्तशती' और 'बिहारी-सतसई' का क्या करे?

वास्तव में इतिहास चिंतन में भक्ति-रीति के 'वियुक्त मिथुन' के प्राचल में इसकी अन्वीक्षा करनी चाहिए। अब सगुण ब्रह्म के अवतारों की लीलाएँ तथा मनुष्य की सुख साधक मिथुन धर्मी क्रीड़ाएँ संस्कृति के मंच पर खुलकर आ जाती हैं। इसके समर्थन में संस्कृत के काव्यशास्त्र के नकल में लक्षण ग्रंथों की भी भरमार हो जाती है। यद्यपि महाकवि देव जैसे प्रतिभाशाली द्वितीय मम्मटाचार्य भी मिलते हैं। तदपि हमें 'शय्यारत नारी' तथा 'कर्त्तव्यशीला नारी' के ध्रुवांतों का भी गोपनीय दर्शन होने लगता है। अति गहराई में 'कुलवंती नारी' और 'नायिका' के अष्टगुण (यौवन, रूप, आभूषण, वैभव, गुण, शील, कुलीनता, शील) भी जगर मगर करते हैं। ये 'अष्टांगवती नायिका' के आठ अंग के रूप में स्वीकृत होते हैं।

तो क्या किसान संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में यह अभिजात्य प्रलोभन है? अभाव है? वस्तुतः किसान समाज के कुल व कुटुम्ब, सदेह और मिलन-विरह की ये स्थानीय अभिव्यक्तियाँ भी हैं। इसे 'अर्धांग संस्कृति' के रूप में स्वीकार किया जाने से ही समकालीनता स्वरूपा अंगीकार

कर सकेंगे। बहुधा ग्रामों से उभरे अधिकांश कविगण भी विशाल शानोशौकत वाले महलों तथा उनकी जीवन शैलियों, वैभवपूर्ण उपकरणों से ललचाते मिलते हैं। यह भक्तों संतों का प्रतिपक्ष (एंटीथिसिस) है। अतः प्रकृति क्षेत्र में भी रीति कवियों का कीर्तिमान काफी निराशाजनक रहा है। अलबत्ता घनानंद, सेनापति, पद्माकर जैसे प्रतिरोधी प्रतिभा अपवाद भी हैं। ज्यादातर कवि बारामासा, नखशिख एवं षट्ऋतु तथा वस्त्रलंकरण में डूबे-बूड़े रहे। तदपि इस संपूर्ण काम-शृंगार-सौंदर्य में मर्यादा का झीना नैतिक-ओढ़ना भी रहा है जो बार-बार अचानक खुल-खिल पड़ता है। निष्कर्ष यही है कि किसी निर्गुण परिवेश में रीति काव्य तथा कला का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। सो पद्माकर, भारतेन्दु से इस काल को अलविदा कर दी गयी। सो रामानुज, रामानंद, वल्लभाचार्य के पूर्वमध्यकाल (ई.प. 650-1150) और उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-भगवद्गीता की प्रस्थान-त्रयी भी धुंधली होती गई। अंततोगत्वा बस एक आयाम छूट रहा है— तांत्रिकों का।

तंत्र की धारा ने लोकायतिक-भौतिकवादी सहज तथा असली जिंदगानी का बेबाक बिंदास रहस्योद्घाटन किया (ई.पू. 7-8 शती में)। इसने मध्यकालीन धार्मिक, नैतिक, जातिवादी, आत्मवादी, परलोकवादी-आभिजात्य जीवन एवं चिंतन को उलट-पलट कर प्रायः तहस-नहस कर डाला। एक समानांतर योगिनी साधना में युगनद्ध महासुख द्वारा सदेह स्वर्ग पहुँचने तथा मोक्ष प्राप्त करने की सिद्धियाँ प्रवर्तित कीं। अतएव यह दक्षिणपंथी न होकर वाममार्गी हैं जो एक साधारण मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों के रूपांतरण पर विश्वास बंधाती है। अतः सुख, सृष्टि, भोग परक संभोग भी साधना का प्रमुख सही माध्यम है; किंवा कथित दमनशाही वर्जितों का गाढ़ालिंगन ही 'चेतना' है। अद्भुत अभ्युत्थान तो यह है कि शबर, डोम्बी जैसी साधारणवर्गी नारियाँ भी असाधारण एवं अलौकिक (योगिनी) शक्ति हो जाती हैं।

हम ऊपर बता आए हैं कि सातवीं शताब्दी ई.पू. के अंत तथा आठवीं के आरंभ में महान सिद्ध सरहपाद द्वारा प्रवर्तित 'महामुद्रा' एवं 'भैरवीचक्र' भी मनोदैहिक तथा सामाजिक रहस्यवादी व्याख्याएँ सुलग उठीं (विश्वम्भर

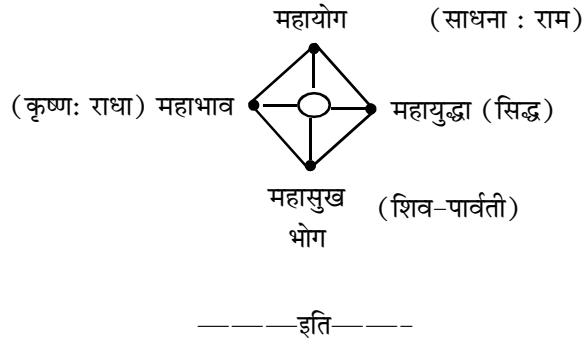
नाथ उपाध्याय)। शायद सरहपा शंकराचार्य के भी समकालीन थे उन्होंने उद्घाटन किया कि मनुष्य के भीतर भोग-आकांक्षा की ज्वाला धधकती रहती है इसलिए भोग को ही योग बना देने, शून्यता तथा करुण को मिलाकर 'युगनद्ध' का महासुख प्राप्त करने भैरवी चक्र में विमुक्त नारी को भव्योन्मत्त परिपूर्ण महामुद्रा बना देने से मुद्रा का तंत्र, समाज का यंत्र तथा ज्ञान का मंत्र सिद्ध होता है।

यह क्रांतदर्शी लोकायतिक अभियान भक्तिकाल तथा महाभाव की भी आधारशिला बना। अतः आगम एवं तंत्र भी वैष्णव-साधना की पृष्ठभूमि रहे। यही नहीं तंत्र के जरिये से आर्य और आर्येतर जातियाँ एक-दूसरे के साथ जुड़ीं (विश्वम्भरनाथ)। तंत्र-मंत्र भाषा के परिष्कृत बोलियों वाले स्वरूप को समझने की कुंजी है। यहाँ 'नृतात्विक भाषिकी' (एंथ्रोपोलाजिकल लिंग्विस्टिक) का भी अभिनव हाशिया खुलता है जो बाद की ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेली, ब्रजबुलि, मणिप्रवाल आदि की मार्फोलाजी तथा सिमेंटिक्स

का खुलासा करता है।

इस तरह के करिश्मे से बोलियाँ परिपूर्ण अभिव्यंजक भाषाएँ भी बन गयीं। फलतः भक्ति लीला और लोकरंजन से संपन्न होकर विद्रोह का आंदोलन भी बन सकीं। अंततोगत्वा निष्कर्ष भी भूलभूलैयां वाले निकलेंगे।

यह सुदीर्घ मध्यकाल विभिन्न सामाजार्थिक आकृतिबंधों तथा सामाजिक एवं मानवीय संबंधों की विविधताओं वाला है। इसमें शैव-वैष्णव, तंत्र-आगम, निर्गुण-सगुण, सूफी-दीन-ए-इलाही, ज्ञानमार्ग-प्रेममार्ग-वाममार्ग, योगिनी-मोहिनी, देवी-दुर्गा-राधा, योगी-भक्त तथा नाना मत-सम्प्रदाय गठित होते हैं। मूलतः सिद्ध-सामंत, कृषि-कारीगरी, भक्त-योगी, अवतार-गुरु, कर्मकांड-समाधि आदि के 'वाद-प्रतिवाद' तथा द्विपर्णाविरोधता आदि की भीड़ लगी है। अतः कई अंतर्विरोधों (कांट्रेडिक्शन) को विरोधाभासों (पैराडॉक्स) में, फिर सामंजस्य समन्वय (यूनिटी) में अदल-बदल करते हुए पाते हैं। अंततः एक चतुरंग :



संपर्क:

फ्लैट सं. 3 (भूतल) स्वात्तिक विहार, फेज-III, मनसा देवी कामप्लेक्स,
पंचकूला- 134109 (हरियाणा), मो. 09780774224

संस्कृत आलोचना के अनुत्तमि त आवाल

डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी

आचार्य, हिंदी विभाग

कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

इन दिनों प्रशंसा महान है और आलोचना गुम! आलोचना के गुम होने की स्थिति में उन पक्षों को देखना जरूरी है जिनके कारणों से आलोचना गुम हुई है। आलोचना गुम तब होती है जब समाज पर साहित्यकार-आलोचक की पकड़ ढीली पड़ जाती है अथवा आलोचना रूपवादी मार्ग पर चल निकले। आधुनिक काल में आलोचना का रूपवादी मार्ग सीधे सर्वसत्तावाद तक ले जाता है। जिन देशों में रूपवादी आलोचना आई वहां पर आगे-पीछे सर्वसत्तावाद या अधिनायकवादी शासन भी आया, रूपवादी आलोचना के राजनीतिक आयामों को हमने कभी खोलकर देखने की कोशिश ही नहीं की। रूपवादी समीक्षा का श्रेष्ठतम रूप देखना हो तो हमें संस्कृत काव्यशास्त्र की यात्रा करनी चाहिए। आलोचना के ह्रास के मर्म को समझने में संस्कृत काव्यशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन हमारी बेहतर ढंग से मदद कर सकता है। इससे हमें उन विचार-सरणियों को समझने में भी मदद मिलेगी जिन पर चलकर संस्कृत काव्यशास्त्र का मूल्यांकन विगत दो सौ सालों में विकसित हुआ है।

भरत कृत नाट्यशास्त्र और समाजः

संस्कृत काव्यशास्त्र को देखने के कई दृष्टिकोण मिलते हैं। पहला, विंटरनिट्स, मैक्समूलर, कीथ आदि पाश्चात्य भारतविदों का नजरिया है, जिसमें बद्धमूल धारणाओं के आधार पर संस्कृत परंपरा को देखने की कोशिश की गयी है। इन लोगों ने भारत के अतीत को अत्यधिक सहानुभूति के रूप में देखा। प्रजातिगत श्रेष्ठता और आध्यात्मिक श्रेष्ठता के आधार पर आदर्श समाज के तत्वों को संस्कृत परंपरा में खोजने की कोशिश की और इन्हीं लोगों ने आर्य जाति की परिकल्पना भी पेश की। इन लोगों ने पुराने समाज में वर्ग संघर्ष और तनाव देखने की बजाय आपसी मेल जोल को प्रमुखता से पेश किया। प्राच्यविदों ने तुलनात्मक भाषा के सिद्धान्त का निर्माण किया, भाषा को प्रजाति से जोड़ा। इस क्रम ने आर्य-अनार्य, आर्य-द्रविड़ का भेद पैदा किया। एक ऐसा यूटोपिया निर्मित किया जिसमें सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद और धार्मिक पुनरुत्थानवाद के बीज छिपे थे। दूसरा, संस्कृत काव्य परंपरा को रूपवादी नजरिए से देखने का दृष्टिकोण है। ये लोग सिर्फ अवधारणाओं की व्याख्याओं में मशगूल हैं। वे अवधारणाओं के साथ जुड़ी सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की एक सिर से उपेक्षा करते हैं। वे समाज और आलोचना के अन्तस्संबंध को नहीं मानते। वे बौद्धिक उत्पादन और भौतिक उत्पादन के अन्तस्संबंधों की ओर ध्यान ही नहीं देते। इन लोगों ने एक खास किस्म का सुविधावाद विकसित कर लिया है। इस सुविधावाद का आदर्श लेखन राममूर्ति त्रिपाठी के लेखन में मिलता है। इस संबंध में उनकी आदर्श कृति है 'भारतीय काव्यशास्त्र के नए क्षितिज'।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय आलोचना का आरंभ भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' से माना जाता है। जिस दौर में यह रचना लिखी गयी वह दौर बहुत ही रोचक है और महान कृतियों के सृजन से भरा है। सतह पर देखें तो यह दौर सामाजिक विकास की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। लेकिन इस दौर में

बेहतरीन रचनाओं का जन्म हुआ है। यहीं पर हमें साहित्य और समाज के अन्तस्संबंध के आधार पर देखने की यांत्रिक दृष्टि की असफलता नजर आती है, समाज के अनुरूप यदि साहित्य की अभिव्यक्ति होती है तो हमें इस सवाल का उत्तर खोजना होगा कि पिछड़े समाज में बेहतरीन कला रूप और साहित्य का जन्म क्यों और कैसे हुआ ? और यहीं हमें कार्ल मार्क्स सबसे प्रासंगिक लगते हैं। जिस दौर में 'नाट्यशास्त्र' का जन्म होता है उसी दौर में 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे महाकाव्य रचे गए। मजेदार बात यह है कि इन तीनों रचनाओं ने कालांतर में रचना और आलोचना को सैंकड़ों साल तक प्रभावित रखा। 'नाट्यशास्त्र' में रंग-मंच से जुड़े सभी पहलुओं पर विचार किया गया, इसे 'पंचमवेद' कहा गया, वहीं पर 'महाभारत' सभी के लिए सम्बोधित रचना है और इसे भी 'पंचमवेद' कहा गया। जबकि 'रामायण' शहरीजनों को सम्बोधित रचना है।

'नाट्यशास्त्र' को उत्तर वैदिक काल की रचना माना जाता है। इसका रचनाकाल ईसा पूर्व दूसरी सदी से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य का माना जाता है। यह वह दौर है जब वैदिक समाज टूट रहा था, वैदिक धर्म और ब्राह्मण धर्म के खिलाफ संघर्ष तेज हो चुका था। लोहे की उत्पत्ति, धान की रोपाई और अतिरिक्त धन की उत्पत्ति के कारण अनेक किस्म के व्यवसायी वर्गों का उदय हो चुका था। निजी संपत्ति का उदय हो चुका था और कबीलाई समाज का अंत हो रहा था। अनेक विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों का जन्म हो चुका था। ये वे वर्ग थे जो अतिरिक्त उत्पादन का उपयोग करते थे तथा राजनीति से लेकर समाज तक उनका वर्चस्व था। वहीं दूसरी ओर पैदावार के साधनों को नियमित करने के लिए धर्मशास्त्रों की मदद ली जा रही थी।

उल्लेखनीय है कि ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के आस-पास 'राज्य' का उदय हुआ और इसी के आस-पास धर्मशास्त्र रचे गए। इसी युग में नाट्यशास्त्र, कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' (ईसा की पहली शताब्दी), पाणिनी कृत 'अष्टाध्यायी' (ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी), ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में पतंजलि भाष्य, मनुस्मृति (ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी) आदि ग्रंथ आ चुके थे, इसके अलावा अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं लिखी जा चुकी थीं।

भरत का 'नाट्यशास्त्र' जिन परिस्थितियों में रचा गया वे परिस्थितियां बेहद तनावपूर्ण और अंतर्विरोधपूर्ण थीं। 'तनाव' और 'अन्तर्विरोध' का भरत पर गहरा असर था, इसीलिए उन्होंने 'सहमेल' की धारणा पर जोर दिया। भरत पर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का ज्यादा असर था। भरत ने जिस दृष्टिकोण को 'नाट्यशास्त्र' में व्यक्त किया वह सम्राट अशोक के नजरिए से काफी मेल खाता है। क्योंकि जब इस कृति की रचना हुई उस समय अशोक का शासन समाप्ति की ओर था या समाप्त हो चुका था। अशोक ने सभी वर्गों के 'सहमेल' पर जोर दिया, भरत ने भी सभी वर्गों के 'सहमेल' पर जोर दिया। डी. डी. कोशाम्बी ने 'प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता' में लिखा कि जिस युग में 'समन्वय' की धारणा आई, वह युग खेत मजदूरों, दासों, छोटे किसानों का था, जिसमें अधिकतर शूद्र थे। दूसरी ओर प्रभु वर्गों के रूप में प्रभावशाली तबका सामने आ चुका था। इन दोनों के बीच में गहरा तनाव था, जिससे बचने के लिए 'समन्वय' की प्रक्रिया राज्य ने शुरू की। प्रजा को नए दृष्टिकोण से देखा गया। नये प्रयत्नों को सार्वभौमिक अर्थ देने वाले 'धम्म' पदबंध का चलन भी इसी दौर में आरंभ हुआ।

'नाट्यशास्त्र' में उस दौर के संकट के संकेत मिलते हैं। मसलन, उस समय नाटकों में देव-दानव संघर्ष पर केंद्रित रचनाएं ही लिखी जाती थीं और उनका ही मंचन होता था। ऐसी ही एक घटना का जिक्र वहां पर है। जिसमें नाटक देखते समय दर्शकों में जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और वे देव-दानव संघर्ष केंद्रित नाटक का विरोध करने लगे, मंचन के दौरान हंगामा हो गया। इस विषय की रचनाओं में आमतौर पर देवता जीतते थे और दानव हारते थे और यही बात दर्शकों को नागवार लगी। तथ्य बताते हैं कि देव-दानव संघर्ष केंद्रित रचनाओं का विरोध करने वाले लोग वे थे जो वंचित थे, वे लोग परेशान थे कि आमतौर पर दानव ही नाटक में हारते हुए दिखाए जाते हैं। इस तरह की एक प्रस्तुति और हंगामे का भरत ने वर्णन किया है, जिसमें जनता भड़क उठी थी और काबू के बाहर हो गयी, बाद में इन्द्र के हस्तक्षेप और प्रहारों के बाद जनता नियंत्रण में आई। यही वह संदर्भ है जिसको ध्यान में रखकर भरत ने लिखा कि भविष्य में नाटक देव-दानव संघर्ष पर ही नहीं लिखे जाएंगे बल्कि त्रैलोक्य के सभी विषयों पर लिखे

जाएंगे। उन्होंने नाट्यकारों से अपील की है कि वे देव-दानव संघर्ष पर रचना न लिखें, बल्कि इस प्रवृत्ति से बचना चाहिए। नाट्यकारों को त्रैलोक्य के विषयों को अपने लेखन का आधार बनाना चाहिए। असल में देव-दानव संघर्ष पर जब नाटककार लिखता था तो वह स्वयं तो देवताओं का पक्षधर होता ही था, दर्शकों को भी देवताओं का पक्षधर बनाता था। आम जनता में इसे लेकर गंभीर प्रतिक्रिया हुई। इस तनाव को दूर करने के लिहाज से भरत ने त्रैलोक्य को अभिव्यक्ति का आधार बनाने पर जोर दिया। पहले नाटककार देवताओं का पक्षधर था इससे जनता रुष्ट थी। जनता की नाराजगी को दूर करने के लिए त्रैलोक्य के विषयों पर लिखने की अपील की गयी। इससे जनता और रंगमंच के नए रिश्ते की शुरुआत हुई। भरत ने लिखा नाटककार को विभिन्न वर्गों के शुभ-अशुभ कर्मों का रूपायन करना चाहिए। जनता के उत्तम-मध्यम और अधम स्वभावों को भी नाट्यकला की परिधि में रखना चाहिए। इससे रंगकर्म का ही नहीं बल्कि साहित्य का भी दायरा बढ़ा। इससे कला और समाज के अन्तर्संबंध की शुरुआत हुई। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो पाएंगे कि संस्कृत काव्यशास्त्र के उदय के पीछे ठोस भौतिक परिस्थितियाँ सक्रिय थीं। दूसरी बात यह कि संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रेरक कोई 'विचार' या 'भगवान' नहीं है। बल्कि सामाजिक उत्प्रेरणा के गर्भ से ही इसका जन्म हुआ। आम तौर पर संस्कृत काव्यशास्त्र पर जब भी चर्चा होती है तो उसे समाज से काटकर पेश किया जाता है। समाज और आलोचना के बीच की अन्तर्क्रियाओं पर हमने कभी गंभीरता से विचार ही नहीं किया।

संस्कृत काव्यशास्त्र और लिंग दृष्टि:

संस्कृत काव्यशास्त्र वस्तुतः पुंस साहित्यशास्त्र है, इसमें स्त्री हाशिए पर है। आलोचना को पुंसत्व के आधार पर देखने की परंपरा पहले नहीं थी, पहली बार पुंसत्व के आधार पर आलोचना का श्री गणेश होता है। काव्यशास्त्र में पुंसत्व का संबंध तत्कालीन पशुपालक अवस्था से है। पशुपालक समाजों में रचित शास्त्र में पुंसवाद का प्रभुत्व सहज और स्वाभाविक लगता है। पशुपालन और युद्ध ये दो महत्वपूर्ण काम थे जिनकी धुरी पुंसवाद है, इनके साथ अंतर्क्रियाएं करते हुए नाट्य कर्म से लेकर काव्यशास्त्र तक का समूचा आलोचना ढांचा पुंसवादी पैमानों के आधार पर

खड़ा किया गया, यह उस समय की व्यवस्था की संगति में सबसे बेहतर विकल्प था। आलोचना के पुंसवादी चरित्र के विकास में कालान्तर में जाति और वंश पर आधारित संरचनाओं ने भी मदद की।

कबीलाई सरदार तंत्र वस्तुतः असमान तंत्र था। इस तंत्र की धुरी है राजन्। राजन् यानी चमकने वाला। राजन् को ही उस समय समस्त उपहार आदि दिए जाते थे। समाज में श्रम-विभाजन का विकास हुआ, लेकिन राजन् की सत्ता अक्षुण्ण रही। संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास का लोहे के विकास की प्रक्रिया से भी संबंध बनता है। लोहे की तकनीक इस दौर में विकसित हुई और लोहे से बने तमाम नए उपकरणों का उदय हुआ। लोहे के उपकरणों के जन्म और संस्कृत काव्यशास्त्र के रिश्ते पर हम कभी गौर करें कि संस्कृत काव्यशास्त्र उस दौर में ज्यादा जन प्रिय और प्रासंगिक रहा है जब समाज पूरी तरह लोहे के यंत्रों पर निर्भर था, अन्य धातुओं के उदय के बाद जो उपकरण सामने आए उन्होंने धीरे-धीरे संस्कृत काव्यशास्त्र को हाशिए पर ठेला। इसने संस्कृत काव्यशास्त्र को ही नहीं बल्कि व्याकरण को भी प्रभावित किया। पाणिनी का व्याकरण वैचारिक तौर पर पुंसवाद के वर्चस्वशाली दृष्टिकोण का आदर्श नमूना है। इसी तरह रस के प्रसंग में जितनी भी बहस है कहने को नवरस हैं, लेकिन अधिकांश संस्कृत साहित्य श्रृंगार रस केंद्रित है, जिसमें पुंसवादी विचारधारा का वर्चस्व है।

रस के पुंसवादी चरित्र का मूलाधार है रस-निष्पत्ति में लिंग की अनुपस्थिति, खासकर स्त्रीलिंग की अनुपस्थिति खास तौर पर उल्लेखनीय है। भरत जब रस को लिंग रहित बनाकर पेश कर रहे थे तो वस्तुतः स्त्री को अदृश्य बना रहे थे। मजेदार बात यह है रस की भरत की अवधारणा को लेकर सभी आलोचक एकमत हैं। भरत ने लिखा 'न रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते', यानी रस से रहित कोई काव्यार्थ नहीं होता। लेकिन रस का आस्वाद लिंगाधारित है, वह इकसार नहीं है। पुरुष को जिस चीज में रस आता है स्त्री को उसमें रस नहीं आता। यदि रस का आधार लिंग-निरपेक्ष मानकर चलेंगे तो इससे स्त्री की अनुभूतियों का मूल्यांकन नहीं हो पाएगा। भरत ने कहा, 'रस्यते (आस्वाद्यते) इति रसः' यानी जो आस्वाद का विषय हो,

वह रस है। काव्य में स्थायी भाव ही आस्वाद्य होता है, अतः वही रस है।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में संरचनात्मक तौर पर जिस रंगमंच संरचना और रस संरचना को अपने ग्रंथ का मूलाधार बनाया उसमें दो चीजों पर विचार करने की जरूरत है, पहली समस्या यह है कि रस और रंगमंच के लिए किस तरह के मॉडल को वैचारिक तौर पर आधार बनाया जाय ? समाज में सम्प्रेषण के दो तरह के मॉडल हैं एक तरफ माध्यम केंद्रित मॉडल है तो दूसरा समाज केंद्रित मॉडल है। भरत ने कला संचार के लिए माध्यम केंद्रित मॉडल को चुना और समाज केंद्रित मॉडल को छोड़ दिया। माध्यम केंद्रित मॉडल चुनते हुए नाटक को आधार बनाया गया और उसमें ही विभिन्न स्तरों पर संरचनात्मक परिवर्तनों की खोज की। रंगमंच के नए उपकरणों की खोज पर जोर दिया। कालान्तर में इससे जो काव्यशास्त्र पैदा हुआ वह भी काव्य के आंतरिक तत्वों, शैली, रूप तत्व और बाह्य उपकरणों के विकल्पों की खोज में व्यस्त हो गया। इसका परिणाम यह निकला कि समूचा काव्यशास्त्र रूप तत्वों की खोज का पुंज बनकर रह गया।

सवाल उठता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के रूपवादी चिन्तन की पद्धति क्या है ? इसमें आलोचक-लेखक के स्वतःस्फूर्त चिंतन के लिए कोई जगह नहीं है। यहां 'शिल्पी' या 'गदिया' रूप की प्रतिष्ठा पर जोर है। कवि या आलोचक की स्वतःस्फूर्तता का यह विरोध करता है। यहां अलंकार और भाषायी चमत्कारों को दिखाने पर जोर है। यही वजह है आरंभ में नाट्यशास्त्र में 4 अलंकार थे जो बढ़ते-बढ़ते 300 से ऊपर हो गए। दूसरी बात यह कि संस्कृत का लेखक-आलोचक अपने भावों को व्यक्त करने के लिए वास्तविक घटनाओं, अभिव्यक्ति रूपों और विषयों की मदद नहीं लेता, वास्तविक घटनाओं से प्रेरित होकर रचना नहीं करता। वह तो भावहीन शिल्प साधना को श्रेष्ठतम उपलब्धि मानता है। सवाल उठता है कि रस के क्षेत्र में स्थायी भाव को आधार बनाकर जो शास्त्र रचा गया उसके पीछे मंशा क्या है ? क्या जीवन और साहित्य में स्थायी भाव जैसी कोई चीज होती है ? स्थायी भाव के आधार पर ही शाश्वत साहित्य, शाश्वत चिंतन, शाश्वत विचार, शाश्वत धर्म, शाश्वत राजा के विचार का प्रतिपादन किया गया। शाश्वत को

सामान्य, स्वाभाविक और अपरिवर्तनीय बनाकर पेश किया गया। यहां शास्त्र निर्माण का जो तरीका चुना गया वह अपने आप में विलक्षण और रोचक है। पहली बार बारीकी से 'विचार' से 'विचार', 'शैली' के गर्भ से 'शैली' का जन्म होता है। विचार या शैली की हू-ब-हू नकल करने और उसके ही विभिन्न विकल्पों की सृष्टि पर जोर दिया गया। प्रिफॉर्मेश के यांत्रिक रूपों ने काव्यशास्त्र में एक तरह से बाढ़ पैदा कर दी। नाटक में शास्त्र बनाते समय इस बात जोर दिया गया कि 'टिपिकल' (प्रतिनिधि पात्र) और 'यूनीवर्सल' (सार्वभौम) पात्र का निर्माण किया जाय। मसलन, राजा को राजा की ही तरह बोलना चाहिए, दिखना चाहिए। उसी तरह कृपण को कृपण की तरह ही दिखना चाहिए। इसी का लगातार अनुसरण करते हुए महान साहित्य के सृजन की कल्पना की गयी। रंगमंच में सार्वभौम प्रकृति का बार-बार अनुकरण करने का यह दुष्परिणाम निकला कि चरित्र स्टीरियो टाइप होते चले गए, विचार और प्रस्तुतियां रुढ़िबद्ध होती चली गयीं। 'सार्वभौम' को स्थापित करने के पीछे यह धारणा काम कर रही थी कि 'सार्वभौम' तो सब समय और सभी तरह के समाजों में अच्छा होता है। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि रचना से यथार्थ ओझल होता चला गया। 'सार्वभौम' को चित्रित करने के क्रम में यह भी संकट पैदा हुआ कि जो सामाजिक यथार्थ, युग की संगति में न आए उसे खारिज करो। इससे मनुष्य की भिन्न स्थिति, भिन्न विचार, भिन्न अनुभूति आदि की प्रस्तुतियों का लोप होता चला गया। साहित्य से विविधता का लोप होता चला गया। कहने के लिए साहित्य में नौ रस हैं, लेकिन अधिकांश रचनाएं श्रृंगार रस पर ही लिखी गयीं, कहने के लिए वायदा किया गया था कि त्रैलोक्य के विषयों पर लिखा जाएगा लेकिन अंततः लेखकों ने देव-दानव संघर्ष पर ही अधिकांश रचनाएं लिखीं। रचनाओं में विषयों का वैविध्य गायब हो गया। 'सार्वभौम' और 'प्रातिनिधिकता' की धारणा का आदर्शीकरण किया गया और इसने साहित्यिक रुढ़ियों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसी क्रम में प्राकृतिक न्याय, प्राकृतिक अधिकार, प्राकृतिक अध्यात्म आदि धारणाएं सामने आईं जिनके कारण मनुष्य की 'अन्य स्थिति' की उपेक्षा हुई। साथ ही कला-साहित्य का नैतिक मूल्यों से संबंध भी कट गया। यही वह प्रस्थान बिन्दु है

जहां पर पितृ सत्ता का कलाओं में वर्चस्व स्थापित हुआ और 'अन्या' की उपेक्षा हुई। साहित्य में 'सार्वभौम' की स्थापना का अर्थ है स्त्री की उपेक्षा। साहित्य में आदर्श रूपों की स्थापना का अर्थ है वैविध्य का अस्वीकार, बनाव-श्रृंगार पर जोर और स्त्री का अदृश्य हो जाना। नैतिक और सामाजिक मूल्यों से आलोचना और साहित्य को परे ले जाना। आलोचक और रचनाकार का इस प्रक्रिया के दौरान समाज में घट रहे परिवर्तनों, ज्ञान-विज्ञान, राजनीति, अर्थनीति आदि से संबंध पूरी तरह कट गया।

रस शास्त्रियों से लेकर काव्यशास्त्रियों तक सभी ने "सामान्य मानवीय प्रकृति" को सम्बोधित करने की पद्धति के तहत मनुष्य को एक तरह अमूर्त बना दिया। इस मनुष्य को 'सार्वभौम' मनुष्य न समझा जाय। यहां जिस मनुष्य को लेखक संबोधित करता है वह तो लेखक का पसंदीदा व्यक्ति है, वह तो एक तरह से स्वयं है। इसमें बहुसंख्यक जनता के वैविध्य की अनदेखी की गयी है। रंगकर्म में अभिरुचि के आधार पर चित्रण करने और संबोधित करने की जो प्रक्रिया शुरू हुई उसने नए किस्म के निर्वैयक्तिक सौंदर्य बोध को पैदा किया।

सहृदय या लक्ष्यीभूत श्रोता:

भरतने 'लक्ष्यीभूत श्रोता' की अवधारणा पेश की जो इन दिनों प्रचलित 'क्रिटिकल ऑडिएंस' की अवधारणा से मिलती-जुलती है। सामान्य तौर पर उसे 'सहृदय' कहते हैं। इस श्रोता को भाषा, शिल्प, कला, छंदशास्त्र, शब्दशास्त्र आदि का ज्ञान होना चाहिए और इसकी इन्द्रियां दुरुस्त हों। भरत यह भी मानते थे किस भी में ये गुण नहीं होते, इसमें फर्क होता है, रुचि भेद भी होता है, पर इनमें से अधिक से अधिक गुण श्रोता-दर्शक में होने चाहिए। 'नाट्यशास्त्र' रुचि भेद स्वीकार करता है और आशा करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल अपने को रस-ग्राही बना सकेगा। फिर भी एक बात साफ है कि 'नाट्यशास्त्र' सुशिक्षित-प्रबुद्ध को ही लक्ष्यीभूत श्रोता मानता है।

'लक्ष्यीभूत श्रोता' की अवधारणा के विकास की प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए हजारि प्रसाद द्विवेदी ने सही रेखांकित किया है कि सन् ईसवी की चौथी-पांचवीं शताब्दी तक के संस्कृत काव्यों के अध्ययन से यह बात जाहिर होती है कि कविगण अपनी कविता के लक्ष्यीभूत श्रोता के 'समझदार'

होने की बात तो करते थे लेकिन उसके पंडित या शास्त्रज्ञ होने का दावा किसी ने पेश नहीं किया। लेकिन कालान्तर में मध्यकालीन कवियों में पाठक के शास्त्र निष्णात होने का दावा उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया। जिस सहृदय की परिकल्पना भरत या कालिदास ने की थी उसे 'समग्रा नर लक्ष्मी' के नाम से सम्बोधित किया गया। यानी भारवि तक 'समग्र मनुष्य' की धारणा आलोचना के केन्द्र में थी। लेकिन बाद के वर्षों में यह धारणा निरंतर खंडित होती चली गयी। अब 'समग्र मनुष्य' की बजाय 'खण्डित मनुष्य' का रस के साथ विवेचन होने लगा। उल्लेखनीय है कि रस विवेचन में जिन दो महत्वपूर्ण धारणाओं की केन्द्रीय भूमिका थी उन पर हमने कम विचार किया, ये हैं, काम देवता और सहृदय। दिलचस्प बात यह है भरत द्वारा प्रतिपादित सहृदय की अवधारणा को वात्स्यायन के 'कामसूत्र' ने अपदस्थ कर दिया। इन धारणाओं का श्रृंगार रस संबंधी विमर्श में बहुत बड़ा योगदान है।

भारवि के बाद परवर्ती काव्यों में लक्ष्यीभूत श्रोता वह सहृदय है जिसे छंदों और अलंकारों का अच्छा ज्ञान हो, वात्स्यायन की बताई विधियों की जानकारी हो, नागरिक जीवन का ठीक-ठीक ज्ञान हो, रामायण और महाभारत के आदर्शों की ग्राहकता हो, साथ ही उसकी रुचियां परिष्कृत हों।

भरत के यहां जो 'सहृदय' है, कालिदास के यहां वो 'सचेता' है। 'सहृदय' बहुत अधिक संवेदनशील तो था, साथ ही रूप, वर्ण, प्रभा, आभिजात्य, विलासिता, माल्य, वस्त्र, उपलेपन आदि का निपुण जानकार भी होता था। सबसे बड़ी बात यह कि इसमें अधिकांश रसिक युवा वर्ग होता था, इसके कारण ही साहित्य में श्रृंगार रस पर केन्द्रित सबसे ज्यादा रचनाएं लिखी गयीं। यही समुदाय श्रृंगार रचनाओं का मुख्य सामाजिक आधार है। राममूर्ति त्रिपाठी ने अभिनव गुप्त के यहां सहृदय की अवधारणा का विवेचन करते हुए लिखा है परात्रींशिका या परात्रिंशिका में अभिनव गुप्त ने कहा है कि 'वीर्यं विक्षोभात्मा हि सहृदयता', शुक्र शरीर के स्तर पर मूल शक्ति का ही सार है-काव्यानन्द की अभिव्यक्ति उसके निष्क्रिय होने में नहीं, उत्तेजित होने में नहीं, अपितु 'चल' (स्पन्दित) होने में है। यह स्थिति संयम से ही संभव है। सवाल यह है संयम का उपदेश किस वर्ग को दिया जा रहा है?

संस्कृत काव्य के संदर्भ में एक पहलू गुलामों की भूमिका से भी जुड़ा है। मध्यकाल में गुलाम न होते तो संस्कृत और संस्कृति का महान वैभव निर्मित न होता। दासों के श्रम और शोषण की इस संस्कृति के निर्माण में बहुत बड़ी भूमिका है। आमतौर पर कवियों-लेखकों-विचारकों-दार्शनिकों के योगदान की बात की जाती है लेकिन मध्यकाल में गुलामों की भूमिका की अनदेखी हुई है। यह समूची प्रक्रिया यूनान के सांस्कृतिक वैभव से काफी हद तक मिलती-जुलती है।

फ्रेडरिक एंगेल्स ने 'ऊ्यूहरिंग मत-खंडन' में लिखा है 'दास प्रथा न होती तो यूनानी राज्य, कला और विज्ञान भी न होते। दास प्रथा न होती तो रोमन साम्राज्य कभी अस्तित्व में न आता। और यदि यूनानी कला तथा रोमन साम्राज्य उसका नींव न डालते तो आधुनिक यूरोप भी न होता। हमें यह भी कभी नहीं भूलना चाहिए कि हमारा समस्त आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक विकास एक सी अवस्था की नींव पर खड़ा हुआ है, जिसमें दास प्रथा उतनी ही आवश्यक थी, जितनी उसे सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त थी। इसी अर्थ में हमें यह कहने का भी अधिकार है कि प्राचीन काल में दास प्रथा न होती तो आधुनिक काल में समाजवाद भी न होता।'

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' में रेखांकित किया है कि नाट्य में वस्तु, नेता और रस को नाटक का आवश्यक अंग माना गया है, इसमें रस को ही प्रधानता दी गयी है। रस सिद्धि के लिए ही वस्तु और नेता की योजना की जाती है। रस आकाश में टिका नहीं रहता। उसके लिए ठोस आधार चाहिए। विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से नेता या नायक के चित्त में रस का संचार होता है। बाद में अनेक आचार्यों ने इस बात पर विचार किया है कि रस की स्थिति वस्तुतः कहाँ होती है-कथानायक में, अभिनेता में या दर्शक में। इस क्रम में उठी आलोचनाओं में यह मान लिया गया कि रसानुभूति में पाठक या श्रोता आवश्यक उपादान है। जो कि पहले नहीं था।

राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार भरत ने यह भी कहा कि नाट्यानुभूति का कोई स्वायत्त संसार नहीं होता। पर, अभिनव गुप्त ने 'नाट्यानुभूति या काव्यानुभूति को सर्वथा स्वायत्त सिद्ध किया। सवाल यह है कि ऐसा परिवर्तन क्यों घटित हुआ? इसकी प्रक्रिया क्या थी? राममूर्ति त्रिपाठी ने लिखा

है 'काव्य या नाटक अपनी प्रस्तुति प्रक्रिया और परिणति में सर्वत्र, अर्जन, विसर्जन, प्रवण व्यावहारिक अनुभूति से सर्वथा भिन्न है। उनको व्यवहार तथा शास्त्र सिद्ध किसी भी अनुभूति के खाने में नहीं रखा जा सकता। भरत ने जहाँ रस को 'आस्वाद्य' कहकर वस्तुगत कहा था, वहाँ अभिनव ने 'आस्वादनात्मानुभवः रसः काव्यार्थ इष्यते' कहकर उसे आत्मगत बताया। सवाल उठता है जो वस्तुगत धारणा थी वह आत्मगत धारणा में रूपान्तरित कैसे हो गयी? इसके पीछे कौन सा दार्शनिक मतवाद था, जो प्रेरक के रूप में काम कर रहा था। अभिनव गुप्त आदर्शवादी दार्शनिक नजरिए में विश्वास करते थे तथा कश्मीरी शैवागम के अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा प्रस्थान के आचार्य थे। त्रिपाठी के अनुसार उन्होंने 'वस्तु सत्ता एवं आत्म सत्ता में पृथक्त्व को नहीं माना।'

शृंगार ही सर्वस्व है:

छठी शताब्दी के आस-पास जब देश में सामंतवाद का आरंभ होता है तो उसके समानान्तर संस्कृत काव्यशास्त्र का भी उदय होता है। जिस समय इस आलोचना का जन्म होता है वह वस्तुतः संस्कृत साहित्य का ह्रास काल है। सामंतवाद के पहले चरण (300-650 ई.) की सामाजिक स्थिति का इतिहासकार रामशरण शर्मा ने 'सामंतवाद' में रेखांकन किया है, 'सामंतवाद की कुछ मोटी-मोटी विशेषताएं गुप्तकाल और विशेषकर गुप्तोत्तर काल में दिखाई देने लगी थीं। वे विशेषताएँ इस प्रकार थीं- परती और आबाद दोनों ही तरह की जमीनें अनुदान में देना, अनुदान में दी गई भूमि के साथ-साथ किसानों का हस्तान्तरण, बेगारी प्रथा का प्रसार, किसानों, शिल्पियों और व्यापारियों के अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहें वहाँ जाकर बसने पर रोक लगाना, मुद्रा का अभाव, व्यापार का ह्रास, राजस्व व्यवस्था तथा दंड प्रशासन का धार्मिक अनुदान भोगियों के हाथों सौंप दिया जाना, अधिकारियों को वेतन स्वरूप अलग क्षेत्रों के राजस्व सौंप देने की प्रवृत्ति का प्रारंभ, और सामंती दायित्वों का विकास।' सामंतवाद के बाद के दौर में (750-1000 ई.) में इन सब बातों के अलावा जो चीजें सामने आती हैं वह हैं राजाओं और राज कर्मचारियों की उपाधियों का सामंतीकरण, राजधानियों में बहुधा परिवर्तन, पुराने गांवों का राजपूत परिवारों के बीच विभाजन आदि।

रामशरण शर्मा के अनुसार पूर्व-मध्यकालीन अर्थ-व्यवस्था में चार प्रमुख विशेषताएं दिखाई देती हैं। प्रथम, भूमि पर राजकीय तथा सामुदायिक स्वामित्व का ह्रास, व्यक्तिगत स्वामित्व का विकास, दूसरा, उप सामंतीकरण, बेदखली, नए-नए करों का आरोपण तथा बेगार के कारण किसानों की दशा का दासवत् होते जाना, तीसरे, व्यापार और शिल्प कारीगरी आदि से होने वाली आमदनी से कुछ लोगों की जागीर का बनना। चौथा, आत्मनिर्भर आर्थिक जीवन। यानी ग्रामीण लोगों के भूमि विषयक तथा सामुदायिक अधिकारों का ह्रास और उसके परिणामस्वरूप निजी अधिकारों का विकास, शिल्प उद्योग तथा व्यापार का सामंतीकरण और मुद्रा का अभाव आदि।

राममूर्ति त्रिपाठी ने सवाल उठाया है कि कालिदास के कवित्व का उत्कर्ष शृंगार में है या करुण में? फिर उन्होंने इस सवाल का जवाब भी दिया है और लिखा है कि वे शृंगार रस के रचयिता हैं। साथ ही उन्होंने बताया है कि 'रस' शब्द बिना किसी विशेषण की अपेक्षा रखे, सहज ही कोई अर्थ देता है तो वह है शृंगार। सवाल यह है कि आखिरकार शृंगार को ही रस का पर्याय क्यों बनाया गया? इसके पीछे प्रमुख कारण तो 'सहृदय युवक का रसिक और शृंगार प्रिय होना है', प्रत्येक कवि अपनी वाणी को सरस बनाने के लिए ऐसे प्रयोगों की ओर अभिमुख हुआ जो शृंगार के द्योतक थे। दूसरा सवाल यह है कि शृंगार क्या है? हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सवाल के जवाब में 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' में लिखा है कि शृंग का अर्थ है मन्मथोद्भेद अर्थात् कामदेव नामक अशरीरी देवता का सक्रिय होना। शृंगार उस देवता की प्रभावशाली शक्ति को व्यक्त करने वाला रस ही है। भारतीय परंपरा में काम देवता के दो रूप मिलते हैं एक रूप वैरागी का है तो दूसरा रूप भोगी का है, कालिदास के यहाँ दोनों रूप हैं, लेकिन उनको भोगी रूप ज्यादा पसंद है। काम देवता के रूपायन के दो वैचारिक आयाम हैं, पहला है, सामाजिक, इस रस के अधिकांश भोक्ता वे हैं जो उस युग के अभिजन हुआ करते थे। शृंगार का भोगी रूप इन अभिजनों को ही सम्बोधित है। दूसरा, इसमें सामाजिक नियमों के अवहेलना की भावना भी निहित है। इसके विपरीत रस को लेकर दूसरी परंपरा वह है जिसे जन कवियों ने बनाया। इन कवियों ने रस और

सरसता को हरि स्मरण के बहाने भगवान की ओर मोड़ दिया। दरबारी सभ्यता के असर के कारण साहित्य में लंबे समय तक पहले शृंगार रस प्रमुख रहा बाद में उसके अंग के रूप में वीर रस ने अपना प्रसार किया। अपभ्रंश और परवर्ती लोक-भाषाओं की कविताओं में वीर रस की दर्पोक्तियां प्रायः प्रेमिका या वीर पत्नियों द्वारा करायी गयी हैं या फिर वीर रस की योजना अनूढ़ा रूपवती कन्याओं के हरण के लिए की गयी है। पृथ्वीराज रासो की अधिकतर लड़ाईयों के मूल में यही प्रेम है। इसके कारण संस्कृत साहित्य और समाज, संस्कृत रचनाकार और समाज, संस्कृत आलोचना और समाज के बीच में क्रमशः दूरी बढ़ती चली गयी। यही वजह है संस्कृत साहित्य से लेकर संस्कृत आलोचना तक कहीं पर सम-सामयिक ज्वलंत सामाजिक समस्याओं का कोई जिक्र नहीं मिलता। इससे साहित्य में रूपवादी दृष्टिकोण का पल्लवन हुआ।

राममूर्ति त्रिपाठी ने शृंगार बनाम करुण रस की बहस में जो तर्क रखे वे बड़े ही दिलचस्प और एकांगी हैं। खासकर बाल्मीकि के संदर्भ में वे एकांगी हैं और समस्या के मूल सिरे से काफी दूर हैं। त्रिपाठी का मानना है आदिकाव्य 'रामायण' करुण रस की अपेक्षा क्रोध से सीधे उत्पन्न हुआ था। इस समूचे प्रसंग में पहली बात यह कि बाल्मीकि की रचना के उद्देश्य को नैतिकतावादी नजरिए से नहीं देखा जाना चाहिए और न ही उसे रस विशेष के खाने में रख कर देखा जान चाहिए। बाल्मीकि कृत 'रामायण' को लिखने के पीछे महत्तर साहित्यिक उद्देश्य था, यह उद्देश्य क्या था? इस सवाल का सही जवाब हजारी प्रसाद द्विवेदी ने खोजा है। 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' में द्विवेदी जी के अनुसार बाल्मीकि ने प्रथम अध्याय में नारद से पूछे गए प्रश्न में कहा कि वे महान और उदात्त चरित्र को अपनी रचना का विषय बनाना चाहते थे, वे किसी आदर्श व्यक्तित्व की तलाश में थे, जिसमें 'समग्रालक्ष्मी' (संपूर्ण मनुष्य) का निवास हो। वे पूरे मनुष्य का चित्रण करना चाहते थे। ऐसा उदात्त व्यक्तित्व संपन्न मनुष्य जो विपत्ति में म्लान न हो, संपत्ति में इतरा न उठे, विजय दर्प में क्षमा करना न भूल जाय, शक्ति पाने पर विनम्र होने में न चूके, और जीवन के उपरले तल की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के अतल गांभीर्य में बहने वाली चरितार्थता की धारा की उपेक्षा

न कर बैठे। यही वह मूल उद्देश्य था। न कि करुण या वीर या शृंगार इत्यादि रस से प्रेरित होकर लिखना। अगर हम करुण या क्रोध को बाल्मीकि की 'रामायण' का मूल प्रेरक तत्त्व मानेंगे तो नैतिकतावादी दृष्टिकोण के शिकार होकर रह जाएंगे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार बाल्मीकि ने रस संचार को जीवन से जोड़ा, नायक की खोज की। नायक उनके यहाँ 'नरचन्द्रमा' है जिसमें मनुष्य की 'समग्रालक्ष्मी' निवास करती है। बाल्मीकि पहले लेखक हैं जो नायक की खोज करते हैं। यही उनका प्रेरक है। संस्कृत साहित्य में छठवीं शताब्दी के बाद इस 'संपूर्ण मनुष्य' का लोप हो जाता है। रचना के स्तर पर ह्रास शील प्रवृत्तियों की शुरुआत होती है। आलोचना में रूपवादी अवधारणाओं की बाढ़ आ जाती है। संस्कृत साहित्य में मनुष्य के प्रति उपेक्षा भाव के कारण समाज रहित रस और आनंद की सृष्टि का जो सिलसिला आरंभ हुआ उसने नए किस्म के समाज रहित साहित्य, साहित्य बोध और आलोचनात्मक विवेक को जन्म दिया। फलतः संस्कृत साहित्य का सामाजिक आधार संकुचित होने लगा। संस्कृत भाषा उच्च वर्ग की भाषा बनकर रह गयी। इसे शिक्षित लोग ही समझ पाते थे। इस भाषा में दी जाने वाली शिक्षा पर ब्राह्मणों का ही अधिकार था। इस भाषा में लिखे ग्रंथों के आधार पर उच्चवर्ग-उच्चवर्ण के लोगों में सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया को संचालित करने में मदद मिली। इससे वर्ग भेद और वर्ग-व्यवस्था को बनाए रखने में मदद मिली। आदिवासियों के संस्कृति, पूजा, व्रत-उपवास आदि के तौर-तरीकों से सवर्णों और अभिजन वर्ग को दूर रखने में मदद मिली। समाज और साहित्य में वर्ग संरचनाओं और वर्ग भेद का तेजी से विकास हुआ।

बाल्मीकि के यहाँ मनुष्य की 'समग्रालक्ष्मी और प्रकृति की समग्रालक्ष्मी' का सम्मिश्रित रूप देखने को मिलता है।

इसी के गर्भ से नए रस का जन्म हुआ। इसके पहले एक ही रस की चर्चा मिलती है। लेखक जब एक ही रस को केन्द्र में रखकर लिखते थे तब रचना के केन्द्र में संपूर्ण मनुष्य नहीं था। द्विवेदी जी के अनुसार यह समग्र मनुष्य का ऐसा उद्बोध नहीं है जो उदात्त रूप में समाज का प्रतिनिधित्व करता हो और उसका उन्नयन करता हो। उसमें मनुष्य द्वारा उद्भावित शास्त्र ज्ञान प्रमुख स्थान ग्रहण करता चला गया और 'भावविशेष' की प्रबलता जीवन के विविध क्षेत्रों को अभिभूत कर लेती है। यद्यपि इस भाव विशेष की पुष्टि को ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया। पर, परब्रह्म के उस रूप की जो प्रकृति और जगत के अनेक तत्वों में अद्वय तत्व खोजने की धारणा को; जिससे रस बनता है, भुला दिया गया। कालिदास तक यह भुलाया नहीं गया था, पर बाद में भुला दिया गया। कालान्तर में 'ब्रह्म' ही प्रमुख हो गया तथा मनुष्य उपेक्षित। साहित्य के क्षेत्र में मनुष्य के प्रति उपेक्षा भाव ने एक ऐसे साहित्य के जन्म को संभव बनाया, जिसमें जीवन की समस्याओं एवं स्पन्दन की गूंज दिखाई नहीं देती, पर, मानवीय जीवन के उदात्त मूल्यों का रूपायन मिलता है। समाज से बेखबर संस्कृत का रचनाकार लगातार अपनी रचनाओं में आनंद एवं रस की सृष्टि करता रहा, पर, इस सृष्टि का अभिजात्यवर्गीय सौन्दर्याभिरुचि के साथ संबंध था। यही वह परिप्रेक्ष्य है जिसमें संस्कृत काव्यशास्त्र का आरंभ हुआ। इसी प्रसंग में ये सवाल भी उठे हैं कि रचनाकार और आलोचक किस तरह के मनुष्य को सम्बोधित करके लिख रहा है? तथा साहित्य में किस तरह के मनुष्य की स्थापना करना चाहता है? रचनाकार का लक्ष्य क्या है? अपने अभीप्सित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए रचनाकार कहीं समाज से दूर तो नहीं जा रहा? भरत की धारणाओं और छठवीं शताब्दी से आए संस्कृत काव्यशास्त्र की धारणाओं में रस क्या है? 'समग्रालक्ष्मी' का ह्रास क्यों और कैसे हुआ? आदि सवालों के उत्तर हमें खोजने चाहिए।

संपर्क:

ए-8, पी 1/7, सी.आई.टी. स्कीम-VII एम, कोलकाता-700054, मो. 09331762360

अमरकांत की कहानी 'डिप्टी कलक्टर' : टूटते सपने और लिखते व्यक्तित्व की कथा

डॉ. राम किंकर पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग

शा. लाहिड़ी महाविद्यालय, चिरमिरी (छ.ग.)

अमरकांत स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य के अत्यंत महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। नई कहानी आंदोलन और जनवादी कहानियों की विकास परंपरा में अमरकांत का विशेष योगदान है। अमरकांत की श्रेष्ठ रचनात्मकता का मुख्य कारण इस बात में निहित है कि वे अपने समय और समाज के गहन यथार्थ का चित्रण उसके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में करते हैं उनकी कहानियों की पात्रों से गुजरते हुए हमें ऐसा लगता है कि मानो हम उस समय के पात्रों से साक्षात्कार कर रहे हैं। अमरकांत की कहानियाँ स्वतंत्रतापूर्व भारत और स्वातंत्र्योत्तर भारत की हकीकत के बीच टकरावों को बयान करती हैं।

'डिप्टी कलक्टर' अमरकांत की बहु चर्चित और बहु पठित कहानी है। भारत की आजादी का आंदोलन देश के नागरिकों के लिए नए सपनों और नई उमंगों से भरा था। स्वतंत्रता संग्राम ने देश की जनता, खासकर पीड़ित, दलित और वंचित वर्ग की जनता के भीतर यह स्वप्न जगाया था कि आजादी की सुबह हमारे लिए एक नई सुबह होगी, वह सुबह हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति की सुबह होगी। नए भारत में उनकी जिंदगी बदल जायेगी, उनकी समस्याएँ हल हो जायेंगी और उनके सपने पूरे होंगे। लेकिन आजादी का पहला दशक बीतते-बीतते स्थितियाँ बदल गईं। चौदह अगस्त सन् सैतालिस की रात बारह बजे पंडित नेहरू ने स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए कहा था कि वर्षों पहले हमने नियति से जो वादा किया था, उसे पूरा करने का समय आ गया है। 'डिप्टी कलक्टर' कहानी की कथानक भी इस सपने से जुड़ता है, जो पूरा नहीं होता है। कहानी में लेखक अत्यंत सहजता से बिना किसी लाग-लपेट के यह बताने में सफल होता है कि देखे गए सपने टूट रहे हैं और सपनों के टूटते ही मनुष्य का व्यक्तित्व भी टूटता है। यह बात एक ऐतिहासिक सच्चाई की तरह है। घोर सामाजिक यथार्थ अमरकांत की रचना के यथार्थ में रूपांतरित और चित्रित होकर ज्यादा बेधक और मार्मिक बन जाता है।

'डिप्टी कलक्टर' कहानी में तीन प्रमुख पात्र हैं- शकलदीप बाबू, उनकी पत्नी जमुना और बेटा बबुआ नारायण। कुछ और पात्र हैं जिनकी उपस्थिति प्रसंगवश है लेकिन उनका चारित्रिक विकास नहीं होता। कहानी का आरंभ शकलदीप बाबू के घर में प्रवेश से होता है। वे एक स्थानीय अदालत में मुख्तार का कार्य करते थे, एक मामूली मुख्तार का पेशा था उनका, जिस पेशे में उतनी आमदनी नहीं होती थी कि घर की जरूरतें पूरी हो सकें। उनकी आमदनी की हालत यह है कि यदि अचानक कोई खर्च आ जाए, तो अपनी आमदनी से उसे पूरा कर पाना संभव नहीं होता। घर में घुसते ही उन्होंने पहले ओसारे के कमरे में झाँककर देखा तो पता चला कि कोई मुक्किल नहीं था, मुहर्रर भी गायब था। शकलदीप बाबू घर में नाश्ता कर रहे हैं तभी उनकी पत्नी जमुना एक जरूरी प्रसंग छेड़ती है जहां से कहानी का ढाँचा खड़ा होता है और

हमें इस परिवार के माध्यम से कहानी की मुख्य समस्या का पता चलता है। चर्चा करते हुए जमुना कहती है- “दो तीन दिन से बबुआ बहुत उदास रहते हैं।” बबुआ नारायण, शकलदीप बाबू के पुत्र हैं जो बेरोजगार हैं और रोजगार के लिए डिप्टी कलक्टर के पद पर नियुक्ति हेतु प्रतियोगिता परीक्षा देते हैं, फिर देना चाहते हैं। आगे जमुना देवी कहती हैं- “दो चार दिनों में फीस भेजने की तारीख बीत जायेगी।” जमुना देवी के इस एक वाक्य में परिवार की आर्थिक स्थिति का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है, लेकिन यह कहानी केवल आर्थिक समस्या भर की नहीं है बल्कि यह सपनों के टूटने की कथा है और साथ ही व्यक्तित्व के टूटने की भी कथा है।

कहानी में मुख्य पात्र शकलदीप बाबू ही हैं, पचास के ऊपर की उम्र है, पेशा किसी तरह चला रहे हैं, उम्र बढ़ती जा रही है किन्तु आमदनी घटती जा रही है। उनके व्यवहार में उम्र का असर सहज ही देखा जा सकता है पत्नी की बात पर झुंझला जाते हैं और कहते हैं- “तो मैं क्या करूँ? मैं तो हैरान-परेशान हो गया हूँ।” उन्होंने तीन बार कह दिया- “मुझसे नहीं होगा।” शकलदीप बाबू ने तीन बार यह बात कह तो दी लेकिन वे पिता ठहरे और पिता होने का वो पूरा फर्ज अदा कर रहे हैं इसी कारण किसी तरह इंतजाम करके, कर्ज लेकर उन्होंने पैसों का इंतजाम किया। एक सौ रुपये फीस के लिए और पचास रुपये किसी और काम के लिए। और इसके साथ ही शकलदीप बाबू की मनोदशा भी बदली और वो अधिक आश्वस्त होकर कहते हैं- नारायण (बबुआ) इस बार भगवान की कृपा से डिप्टी कलक्टर अवश्य होंगे। एक नई सोच और नई उम्मीद के साथ वो आगे बढ़ते हैं ठीक उस पीढ़ी की तरह जो आजादी के बाद एक नये सपनों के साथ थी। नारायण भी अपने पिता की उम्मीदों और सपनों को पूरा करने के लिए कड़ी मेहनत करने लगता है पिता शकलदीप बाबू भी उसके लिए सारा इंतजाम करने लगते हैं, सभी तरह के संसाधन जुटाने में लग जाते हैं, यहां तक कि बबुआ को मेवा खिलाने का प्रबंध भी करते हैं और पत्नी जमुना देवी को प्रबंध के साधन सौंपते रहते हैं।

‘डिप्टी कलक्टर’ की परीक्षा हुई, बबुआ लिखित परीक्षा में चयन हुआ, इंटरव्यू में बुलाया गया, यह नई

घटना थी, पहले नहीं बुलाया जाता था, इंटरव्यू भी अच्छा हो गया। अब परीक्षा परिणाम की प्रतीक्षा आशा उत्सुकता से की जाने लगी। परिणाम निकला, नारायण का सोलहवाँ-सत्रहवाँ स्थान था, केवल दस को लिया गया था। सफलता और असफलता के इस द्वंद्व में पूरा परिवार डूब गया है लेकिन शकलदीप बाबू बेटे को असफलता के लिए दोष नहीं देते बल्कि वह यह सोचते हैं कि कहीं बबुआ जीवन से उदास न हो जाये इसलिए वे गदगद स्वर में कहते हैं- ‘बबुआ सो रहे हैं और ऐसा कहते समय उनकी आँखें भर आई थी। वे शायद यह बताना चाहते हैं कि वर्तमान व्यवस्था में जरूरतमंद लड़कों को रोजगार प्रदान करने का सामर्थ्य ही नहीं है। हजारों लड़कों ने परीक्षा दी होगी, सैकड़ों ने इंटरव्यू दिया होगा और लिए जाने हैं केवल दस। वर्तमान व्यवस्था में युवाओं के लिए इतने कम अवसर हैं कि उनका कोई दोष नहीं है। नारायण ने कड़ी मेहनत की, डिप्टी कलक्टर नहीं हो पाये, लेकिन उनकी तैयारी ने शकलदीप बाबू को छः सौ रुपये के कर्ज में डुबा दिया किंतु कर्ज में डूबकर और बेटे को असफल होते देखकर भी वो टूटते नहीं हैं हैं बल्कि खुद को दिलासा देते हैं। यह स्थिति है आजाद भारत में एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की।

कहानी में शकलदीप बाबू के चरित्र को गढ़ने में लेखक को विशेष सफलता मिली है। नारायण की विफलता, सफलता और फिर अंततः विफलता की स्थिति में कथा में जो वातावरण बनता है उसके केंद्र तो शकलदीप बाबू ही हैं, उन्हीं के मार्फत पूरे परिवार की मनोदशा स्पष्ट होती है। जब नारायण को इंटरव्यू के लिए चुन लिया जाता है तब परिवार में एक उल्लास और आनंद का माहौल बन जाता है। यह माहौल है- नारायण के डिप्टी कलक्टर बनने की संभावना का, जिस संभावना के उल्लास और उमंग में डूबते हैं शकलदीप बाबू और उनकी पत्नी जमुना देवी। दोनों आपस में बातें करते हैं और खुश होते हैं। यह मनोदशा है एक निम्नवर्गीय परिवार की जहाँ भविष्य की सुखद कल्पना मात्र में भी व्यक्ति यह समझ लेता है मानो उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो चुकी हैं। पूरे घर में एक माहौल बन गया है मानो बबुआ डिप्टी कलक्टर बन ही गए हैं, शकलदीप बाबू तो पुत्रवधू को ‘डिप्टाइन’ कहने

लगे हैं। जमुना देवी बाद में घूमने की कल्पना करके चहकने लगती हैं। यहाँ कथाकार की मनोवैज्ञानिक चेतना और कलात्मक सिद्धि वातावरण के निर्माण में सफल सिद्ध होती है। साथ ही हम देखते हैं कि अमरकांत की सृजनशीलता में यथार्थ की पहचान और पकड़ के साथ ही उसे यथार्थ की अवस्था के अनुसार मूर्त करने में महारत हासिल है, साथ ही भाषा पर अधिकार है, वे पात्रों के अनुसार जैसी भाषा चाहते हैं वैसी इस्तेमाल करते हैं।

कहानी में माता-पिता दोनों का प्रयास है कि बबुआ किसी तरह डिप्टी कलक्टर बन जाए और इसके लिए वे सारा इंतजाम और प्रबंध करते हैं। शकलदीप बाबू की तो सारी चेतना नारायण की सफलता के लिए सहयोग करने में एकाग्र हो जाती है और जमुना देवी उसके इस प्रयास में पूरी सहभागी बनती जाती है। लेकिन कहानी के अंत में जब परीक्षा परिणाम निकलता है और नारायण सफल नहीं हो पाता, सोलहवें-सत्रहवें स्थान पर रुक जाता है, वह उन दस लड़कों में नहीं आ पाता जिन्हें अंतिम रूप में चयनित होता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था का दुष्क्र और सत्ता का गठजोड़ आम जनता के सभी वर्गों को रोजगार नहीं दे सकता। इस व्यवस्था में इतने अवसर ही नहीं हैं कि निम्न मध्यवर्गीय परिवार का लड़का नारायण सारा प्रयास करके भी सफलता प्राप्त कर सके। सीमित अवसर के सामने परिश्रम और सफलता के सारे उपाय धरे रह जाते हैं। कथा के इस अंतिम मोड़ में आकर सभी पात्रों की सोच बदल जाती है, ऐसा लगता है कि सभी नियति को स्वीकार करने के लिए बेबस है। शकलदीप का यह कहना कि नारायण यदि डिप्टी कलक्टर नहीं नियुक्त किए गए, तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है, इस व्यवस्था में इतने अवसर ही नहीं हैं तो कोई गरीब आदमी क्या कर सकता है? इसे हम नियतिवाद का चरम कहें या व्यवस्था के आगे घुटने टेकना? अथवा एक गरीब परिवार की बेबसी? कथा के अंत में जो तनाव बढ़ना चाहिए था वह कथाकार की चतुराई और कलात्मकता के कारण कम हो जाता है।

इस कहानी में कोई नायक नहीं है, क्योंकि कहानी में

कार्य करने वाला पात्र नारायण जरूर है लेकिन कथा में घटित होने वाली घटनाओं का परिणाम उसके हाथ में नहीं है। क्योंकि परिणाम तो पूँजी और सत्ता प्रतिष्ठानों के गठजोड़ के हाथ में है। कहानी यह बताने में सफल रहती है कि आधुनिक युग में पूँजी, सत्ता और राजनीति का गठजोड़ किस तरह से निम्न-मध्यवर्ग के सपनों पर भारी पड़ रहा है। कहानी का अंत बेहद स्वाभाविक और मानवीय तथा पारिवारिक भविष्य की चिंता को व्यक्त करने वाला है। कथा में इसका निर्वाह लेखक ने बड़े सधे तरीके से किया है और इसका संतुलन कहीं भी बिगड़ता नहीं है और यही इस कहानी की प्रौढ़ संरचना का सबूत है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कहानी में कथा-निर्वाह में लेखक स्वयं कहीं सामने नहीं आता बल्कि वह हर प्रसंग में पीछे रहता है। कहानी की घटित हो रही घटनाएँ कम होकर भी सब कुछ कह जाती हैं। कहानी के प्रमुख पात्र होने के नाते शकलदीप बाबू के कथन से ही पाठकों को घटना की जानकारी मिल जाती है और यही अमरकांत की कहानी कला के विकास की ऊँचाई का प्रमाण है।

पूरी कहानी की भाषा सरल, सहज और स्वाभाविक है। कथा-भाषा में कहीं भी बनावटीपन नहीं दिखता है। कहानी में चित्रित जीवन संघर्ष अपनी समग्रता में व्यक्त हुआ है। समग्र रूप में 'डिप्टी कलक्टरी' हिंदी कहानी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। हम इसे नई कहानी और उसके बाद के दौर की श्रेष्ठ प्रतिनिधि कहानियों में रख सकते हैं। पूरी कहानी का अंत जिस खास मायूसी में होता है, वह केवल शकलदीप बाबू की या उनके परिवार की मायूसी नहीं है, बल्कि वह हमारी पूरी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था से उत्पन्न मायूसी है जिसका प्रभाव पाठक के मन-मस्तिष्क में देर तक रहता है। इसके प्रभाव के रूप में पाठकों की चेतना में यथार्थ के प्रति एक प्रकार की वितृष्णा पैदा होती है, जो शकलदीप बाबू और उनके परिवार के अवसाद को आत्मसात करने की स्थिति में पहुँच जाता है। अमरकांत के रचना संसार में अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ हैं लेकिन एक अकेले 'डिप्टी कलक्टरी' उन्हें इतिहास में अमर रखने में समर्थ है।

संपर्क : शा. लाहिड़ी महाविद्यालय, चिरमिरी जि. कोरिया (छ.ग.), मो. 9425489956

हिंदी की जातीय साहित्य परंपरा और भावतेंदु युग

बीरेन्द्र सिंह

सहायक प्राध्यापक

स्कॉटिश चर्च कॉलेज, कोलकाता

साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के नजरिये से हिंदी जाति अत्यंत समृद्ध है। भारतीय गौरव के संदर्भ में वेदों से लेकर अधुनातन साहित्य तक हिंदी जाति के योगदान को परिलक्षित किया जा सकता है। भारतीय साहित्य-संस्कृति का बड़ा भाग हिंदी प्रदेश की देन है। डॉ. रामविलास शर्मा इसके महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं, “भारत राष्ट्र के निर्माण में और भारतीय संस्कृति के विकास में हिंदी प्रदेश की निर्णायक भूमिका स्वीकार करनी चाहिए। दक्षिण में तमिलनाडु, उत्तर में कश्मीर, पूर्व में असम और पश्चिम में गुजरात, दूर-दूर के इन प्रदेशों के जोड़ने वाला, इनके बीच स्थित विशाल हिंदी प्रदेश है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, अर्थशास्त्र की रचना यही हुई। यहीं कालिदास और भवभूति ने अपने ग्रंथ रचे और मौर्य तथा गुप्त साम्राज्यों की आधारभूमि यहीं प्रदेश था। उत्तरकाल में दिल्ली, आगरा इस प्रदेश के बहुत बड़े नगर बने। ये व्यापार के बहुत बड़े केन्द्र थे और सांस्कृतिक केन्द्र भी थे। तुर्क वंशी राजाओं ने यहीं रहकर शताब्दियों तक एक बहुत बड़े राज्य का संचालन किया। विद्यापति, कबीर, सूरदास, तुलसीदास जैसे कवि इसी क्षेत्र में हुए। इसी प्रदेश में प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन का जन्म हुआ। अपने स्थापत्य सौन्दर्य से संसार को चकित कर देने वाला ताजमहल इसी प्रदेश के आगरा नगर में है।”¹ ये सारे कारक हिंदी जाति की समृद्ध परंपरा के द्योतक हैं।

हिंदी प्रदेश के अति प्राचीन और अति बहुमूल्य योगदान की चर्चा दरअसल एक भूमिका के रूप में करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी के जातीय विकास को खुसरों की रचनाओं से जोड़ते हैं। तेरहवीं-चौदहवीं सदी में खुसरों के यहाँ खालिस खड़ी बोली की उपस्थिति को एक बनती हुई जाति की भाषा के लक्षण के तौर पर देखा जा सकता है। लोक-व्यवहार के साथ-साथ तत्कालीन शासन व्यवस्था में भी हिंदी का दखल कमतर न था। फारसी के राजभाषा होते हुए भी शासन का बहुत सा काम हिंदी में होता था। शेरशाह ने अपने साम्राज्य में फारसी भाषा के मुंशियों के साथ आम जन की सुविधा के लिए हिंदी भाषा के मुंशियों की भी नियुक्ति की थी। बाबर की भाषा भले ही तुर्की रही हो परंतु अकबर के समय तक राजभाषा फारसी के बावजूद मुगल साम्राज्य की आम व्यवहार की भाषा हिंदी हो चुकी थी। दानियाल हिंदी में कविताएँ लिखता था। जहाँगीर हिंदी काव्य का प्रशंसक था। आम जन के साथ राजदरबारों में हिंदी कविता और भाषा का वातावरण था।

मध्यकालीन भारत में जातीय चेतना के विकास में भक्ति आंदोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हिंदू-मुस्लिम, सूफी-संत सारे कवि एक सामान्य मानवता के गीत गाते नजर आते हैं। हम यहाँ जिस जातीय निर्माण की प्रक्रिया को एक युगांतकारी महान घटना के रूप में चिह्नित कर रहे हैं वह जाति-बिरादरी वाली भावना के प्रतिरोध की सैद्धांतिकी रचती जातीय चेतना है। जातीय चेतना के आधुनिक स्वरूप के उभार का एक दूसरा पहलू हिंदू-मुस्लिम ऐक्य में परिलक्षित होता है। व्यापार का प्रसार धर्मीय घेरेबंदी को आधार बनाकर न हो सकता था। अतः व्यापारिक पूँजीवाद की शुरुआत ने समाज को धर्मीय जकड़बंदी से बाहर निकालने के लिए बाध्य किया। साहित्य-संस्कृति में समन्वय की प्रक्रिया शुरू हुई। इसके लिए दोनों धर्मों के बीच भेदभाव के तत्त्वों को ढूँढ़कर दूर करने का प्रयत्न किया गया। कबीर यहाँ भी अग्रणी भूमिका में दिखते हैं। समन्वय की यह भावना, हिंदी साहित्य की एक पूरी परंपरा, सूफी काव्यधारा की मूल अन्तर्वस्तु है, अनेक मुस्लिम रचनाकारों ने अरबी-फारसी की जगह प्रचलित हिंदी को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया। मुल्ला दाउद ने लोरिक और चन्दा की प्रचलित हिंदी प्रेम कहानी के आधार पर 'चंदायन' की रचना की तो इस धारा के प्रतिनिधि कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने लोक प्रसिद्ध रानी पद्मावती की कथा को 'पद्मावत' पद्यबद्ध किया।

काव्य के साथ संगीत के योग का प्रभाव व्यापक जनसमुदाय पर ज्यादा सरलतापूर्ण ढंग से पड़ता है। संगीत सामान्य संस्कृति और सामान्य भाषा की बुनियाद कायम करने का सबसे कारगर जरिया होता है। भक्तिकालीन कवियों ने इस बात को बखूबी समझा था। इस सिलसिले में सूर और मीरा का महत्व निर्विवाद है। काव्य और संगीत के द्वारा भक्तियुगीन कवियों की बड़ी ही सहजता से हिंदी प्रदेशों के जनपदों को एकता के सूत्र में बाँधा। विशेषकर सामान्य भाषा के प्रसार ने एक सामान्य जाति की विशेषताओं को मजबूती से उभारा। भक्तियुगीन परिस्थितियों ने हिंदी के जातीय निर्माण में काफी मदद दी। विभिन्न बोली, भाषा, सम्प्रदाय, धर्म वगैर किसी भेदभाव के जिस तरह घुलमिल रहे थे उससे एक सशक्त जातीय एकता बलवती हुई।

हिंदी जाति की भक्तियुगीन समृद्ध साहित्यिक परंपरा रीतिकान में आकर एक ठहराव का शिकार हो जाती है। इसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारण रीतिकालीन साहित्य के बड़े अंश का सामन्ती नेतृत्व में रचा जाना है। इस साहित्य का बड़ा हिस्सा दरबारों में रचा गया। अपने आश्रयदाता के सच्चे-झूठे गुणगान में तल्लीन रचनाकार की दृष्टि में एक संकीर्णता का आना स्वाभाविक भी था। वस्तुतः रीतिकालीन काव्य की अवधारणा में भी एक संकीर्णता है। रीतिकालीन साहित्य के तौर पर हम केवल दरबारी लोकभाषाओं के साहित्य को ही लेते हैं जबकि इसी दौरान खड़ी बोली हिंदी की नवीन शैली उर्दू में जो कुछ रचा गया वह हमारे जातीय साहित्य की सही प्रतिनिधित्व करता लगता है जहाँ इनकी नजर ज्यादा व्यापक भावबोध को लेकर चली और जहाँ जातीय चेतना के एक नये रूप का आभास मिलता है। रीतिकालीन साहित्य के इस दौर में चिंतामणि, केशव, बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, घनानंद, आलम, बोधा आदि के अलावा मीर, सौदा, गालिब, जॉक, जफर, आतिश और नजीर अकबरावादी जैसे रचनाकार भी थे। पहले क्रम के रचनाकार जहाँ दरबारी संस्कृति में डूबकर नायक-नायिका भेद, अलंकार-चमत्कार प्रदर्शन आदि में रमे हुए थे वहीं दूसरी श्रेणी के कविगण तत्कालीन परिस्थितियों पर अपनी तरह से सचेत ढंग से अपनी बात रख रहे थे। रीतिकालीन दौर में रचित सम्पूर्ण साहित्य के आधार पर ही रीतिकाल का मूल्यांकन होना चाहिए तभी हमारे जातीय साहित्य की छवि सामने आ सकेगी।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश शासन व्यवस्था की प्रभुत्व वृद्धि के साथ समाज, साहित्य और संस्कृति में भी भारी बदलाव आए। हमारी अब तक की विकसित हो रही सहज स्वाभाविक जातीय चेतना को अंग्रेजों ने सबसे पहले एक खतरे के रूप में पहचाना। भाषा ही किसी जाति की एकता का सबसे महत्वपूर्ण कारक है, अंग्रेज इस तथ्य से वाकिफ थे। अतः 1857 के बाद भाषायी-विभाजन; अंग्रेजी रीति-नीति का प्रमुख कारक बना। हिंदी-उर्दू के भेद को तरह-तरह से बढ़ावा दिया गया। बाद के साहित्यकारों ने अंग्रेजों की इस कुटिल रणनीति का पर्दाफाश किया तो वहीं बहुत सारे

रचनाकार अंग्रेजी जाल में फँसे भी। इसका सबसे बड़ा खामियाजा हमारी जातीय साहित्य की विकसनशील परंपरा को उठाना पड़ा।

आधुनिक जातीय साहित्य परंपरा में भारतेंदु-युगीन साहित्य का अवदान अतुलनीय है। मौलिक विशेषताओं से लैस भारतेंदुयुगीन सभी रचनाकारों ने एक मिशन के तहत जातीय साहित्य को एक नई दिशा दी। हिंदी जाति की साहित्य परंपरा का यह अन्तर्निहित गुण रहा कि उसमें धर्म, भाषा, क्षेत्र और जाति के सहअस्तित्व और एकता को विशेष महत्त्व दिया गया। समय-समय पर हिंदी जाति की इस परंपरा पर सीधे या परोक्ष रूप से प्रहार भी हुए फिर भी गर्व की बात यही है कि हमारी मूल जातीय साहित्य परंपरा इन्हीं मूल्यों को लेकर आगे बढ़ी है। भारतेंदुयुगीन साहित्य सिद्ध करता है कि हिंदी की जातीय साहित्य परंपरा में प्रगतिशील तत्त्वों का समावेश शुरू से ही रहा है।

भारतेंदुयुगीन काव्य हमारी जातीय चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति का काव्य है। इस युग की कविता में जनकल्याण, देशभक्ति, समाज-सुधार की भावना भरी पड़ी है। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि सभी विषय युग की कविता के विषय बने। अंग्रेजी शोषण-दमन के खिलाफ कवियों ने एकजुट होकर समयानुकूल परिस्थितियों को ध्यान में रखकर एक व्यापक अभियान छेड़ा। इन कवियों की वाणी ने सामान्य जनता को उनके खोये हुए गौरव से पुनः परिचित कराया। देश, जाति, सभ्यता-संस्कृति और भाषा के प्रति निजत्व की भावना भरने में इस युग का विशेष महत्त्व है। भारतेंदुयुग के पूर्व तक हिंदी काव्य परंपरा अपनी उत्कृष्टता में भी कहीं न कहीं साधारण जन से विच्छिन्न होकर पनपने का शाप भोग रही थी। भारतेंदु ने उसे नया रूप देकर जन-साधारण के जीवन से संपृक्त किया। भारतेंदुयुगीन कवियों ने अपने अथक परिश्रम से साधारण जन की जातीय चेतना को परिभाषित किया। भारतेंदु ने साधारण जनता के बीच जाने के लिए उनके बीच प्रचलित भाषा और विधा को विशेष महत्त्व दिया। लोक-साहित्य, ग्राम-गीत पर उनका विशेष जोर देखने को मिलता है।

भारतेंदुयुगीन कवियों की शक्ति का मूलाधार जनता से उनका लगाव था। आमजन की समस्याओं से प्रभावित होकर उनके निदान का मार्ग वे कविताओं के माध्यम से ढूँढ़ते थे। कविता की ताकत को इन कवियों ने सबसे पुख्ता ढंग से पहचाना था। फिर भी इन कवियों की राजभक्ति और समस्यापूर्ति की कविताओं को देखकर बहुत से आलोचकों को ऐतराज रहा है। दरअसल महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र तत्कालीन परिस्थितियों में एक अबूझ पहली की तरह प्रकट हुआ। भारतीय जनमानस को दिग्भ्रमित करने का शायद इससे बड़ा और कोई साधन हो भी नहीं सकता था। इसी का प्रभाव था कि भारतेंदुयुगीन कवियों का मन राजभक्ति और देशभक्ति के बीच सबसे ज्यादा हिचकोले खाता दिखाई देता है। भारतेंदु अंग्रेज जाति के मंसूबों से अपरिचित व्यक्ति न थे परंतु परिस्थितियों के मद्देनजर शायद उनके समक्ष भी, जो और जिस तरह वे कर रहे थे, उसके अलावा कोई मार्ग न था। भारतेंदु की मूल चेतना हिंदी जाति की उन्नति से जुड़ी थी। भाषा किसी भी जाति का सबसे बड़ा अभिलक्षण होती है फलतः भारतेंदु ने हिंदी जाति की उन्नति के उद्देश्य से “हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान” रचते हुए अपना प्रसिद्ध सूत्र वाक्य लिखा-

“निज भाषा उन्नति अहैं सब उन्नति को मूल।

बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।”¹²

भारतेंदुयुगीन काव्य में भिन्न-भिन्न भावों की रंगलहरियों को देखकर डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, “भारतेंदु-युग के काव्य-साहित्य को पढ़ने से एक विचित्र कोलाहल का अनुभव होता है। विभिन्न धाराओं के एक साथ मिलने से पाठक को आकाश-भेदी कलकल ध्वनि सुनायी पड़ती है। कुछ लोग नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में लगे हैं तो दूसरे प्रतिभावान समस्यापूर्ति में चमत्कार दिखा रहे हैं। अन्य कवि महामारी, अकाल, टैक्स पर लोक-गीत रच रहे हैं और कुछ लोग कविता में गद्य की भाषा का प्रयोग भी कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य-साहित्य में व्यवस्था का अभाव है, पुरानी रूढ़ियों पर चलने वाले काफी हैं तो साहस से नये प्रयोग करने वालों की भी कमी नहीं है। ऐसे लोग भी अनेक हैं जो कुछ दिन रूढ़ियों पर

चलने के बाद इन नये प्रयोगों की ओर झुक रहे हैं। दरबारी-संस्कृति और नवचेतना का संघर्ष कविता में ही सबसे ज्यादा दिखायी देता है।¹³ यही कारण है कि तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्द्वंद को समझने का सबसे अहम सूत्र इन कवियों की काव्य चेतना में मिलता है। आत्माभिव्यक्ति और समाज तक अपनी बात पहुँचाने के लिए इन्होंने साहित्यिक रूढ़ियों की परवाह कभी नहीं की। देश और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को इन्होंने कभी नहीं भुलाया। भारतेंदु की मुकरियों में इसे भलीभाँति देखा जा सकता है। अंग्रेज जाति के संबंध में उनकी अत्यंत प्रचलित मुकरी देखें-

“भीतर भीतर सब रस चूसै। हंसि हंसि कै तन मन धन मूसै।।
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज।।”¹⁴

भारतेंदुयुगीन कवियों में विशिष्ट स्थान के अधिकारी प्रताप नारायण मिश्र की कविता में भी राजभक्ति की ओट में देश-दशा का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण देखने को मिलता है। इन्होंने प्रिंसेस ऑफ वेल्स के स्वागत में ‘युवराज कुमार स्वागतंते’ गीत लिखा। इस स्वागत गीत में कोई भी सहृदय पाठक किसी राजकुमार की अभ्यर्थना से ज्यादा देश की दीन-हीन छवि का वर्णन और देशोद्धार की प्रार्थना को सहज परिलक्षित कर सकता है। ‘होली’, ‘फाग’ शीर्षक कविताएँ हों या ‘तृप्यन्ताम्’, ‘लोकोक्ति शतक’ कवि जातीय प्रगति की कामना करता मिलता है। ‘लोकोक्ति शतक’ कविता में वे लिखते हैं-

“सर्वसु लिए जात अंगरेज, हम केवल लेक्चर के तेज।
श्रम बिन बातें का करती हैं, ‘कहुँ टेंटकन गाजें टरती हैं’।।”¹⁵

भारतेंदुयुगीन कवियों में बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन का विशिष्ट स्थान है। प्रेमघन हिंदुओं की अतीत गौरव भावना के मुखर कवि हैं तथापि तत्कालीन समय समाज पर उनकी पैनी नजर है। वे अतीत का स्मरण वर्तमान के बदलाव हेतु करते हैं। इनकम् टैक्स के लगने पर लिखित उनकी कविता ‘होली की नकल या मोहर्रम की शकल’ कविता की कुछ पंक्तियाँ देखें-

“लूटि विलायत भारत खाय। माल ताल बहु विधि फैलाय।।
ताको मासूली छुटि जाय। जामै लागैं लाभ दिखाय।।
देसी मालन इहाँ बिचाय। घाटा भारत के सिर जाय।।
रोओ! सब मुँह बाय बाय। हय हय टिक्कस हाय हाय।।”¹⁶

भारतेंदुयुगीन राजभक्ति ‘भारत के हित’ हेतु उमड़ी थी, किसी व्यक्तिगत स्वार्थ साधन हित नहीं। इन कवियों को अंग्रेजी शासन खासकर ईस्ट इंडिया कंपनी शासन के गुणदोष भलीभाँति पता थे परन्तु 1857 के बाद महारानी की उदघोषणा और अपनी कमजोरी ने इन्हें महारानी की ओर और अधिक आशापूर्ण मनोकामना के साथ धकेला। भारतेंदुयुगीन कवियों की राजभक्ति जातीय जागृति के लिए एक आवश्यक उपकरण की तरह है। इसी की आड़ में ये कवि जातीय चेतना को विकास के एक नये सोपान तक ले गये। स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह पर रोक, जाति-बिरादरी गत ऊँच-नीच की भावना का दमन, मद्यपान जैसी सामाजिक कुरीतियों का निषेध, धार्मिक पाखंड और बाह्याडम्बर पर प्रहार जैसे विषयों पर इन कवियों ने जमकर कविताएँ की हैं। इन कविताओं को देखकर हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि परिस्थितियों की प्रतिकूलता के बावजूद ये कवि बड़े ही सुनियोजित ढंग से एक जाति के जातीय चरित्र के निर्माण में लगे थे। देश की तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति जनमानस में आलोचनात्मक विवेक का संचार करना कोई आसान बात न थी जिसे इन कवियों ने एक चुनौती की तरह लिया और अपनी कविता के माध्यम से एक कठिन लड़ाई लड़ी। भारतेंदुयुगीन काव्य की सही समझ नवजागरण की अधूरी परियोजना को नई जीवनीशक्ति दे सकती है।

नाटक को इस युग की सबसे महत्वपूर्ण विधा कहा जा सकता है। दृश्य माध्यम के रूप में तत्कालीन परिस्थितियों में नाटक की अहमियत को भारतेंदुयुगीन रचनाकारों ने भली भाँति पहचाना था। जबकि बहुसंख्यक जनता अशिक्षित और निरक्षर हो इसे देशकाल की माँग के रूप में भी देखा जा सकता है। जहाँ कविता व अन्य साहित्यिक विधाओं का प्रभाव पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित था वहाँ अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नाटक के जरिये इन रचनाकारों ने व्यापक जनसमुदाय तक सहज ही अपनी पहुँच बनाई। इस युग की अगवानी करते हुए स्वयं भारतेंदु ने प्रचुर मात्रा में नाटकों की रचना की। भारतेंदु द्वारा रचित छोटे-बड़े मौलिक नाटकों की संख्या तकरीबन दस ठहरती है जिनमें वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, पांचवे पैगम्बर, प्रेम जोगिनी, भारत-

दुर्दशा, चन्द्रावली नाटिका, विषस्य विषमौषधम्, सत्य हरिश्चंद्र, अंधेर नगरी, नील देवी और सती प्रताप को लिया जा सकता है। जातीय साहित्य की समृद्धि हेतु उन्होंने बांग्ला, मराठी, अंग्रेजी और संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों का अनुवाद भी किया। विद्यासुंदर, रत्नावली, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, दुर्लभ बंधु और कर्पूरमंजरी भारतेन्दु के अनूदित नाटक हैं। इस क्रम में भारतेन्दुयुगीन अन्य रचनाकारों में प्रतापनारायण मिश्र का 'भारत-दुर्दशा', 'कलि कौतुक' प्रेमधन का 'भारत सौभाग्य', गोपालराम गहमरी कृत 'देश-दशा' जगतनारायण द्वारा 'भारत दुर्दिन', अम्बिकादत्त व्यास का 'भारत सौभाग्य' आदि प्रमुख हैं।

भारतेन्दु कृत 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' एक प्रहसन हैं जहाँ वे व्यंग्य-विनोद की शैली में जातीय चरित्र को धब्बा लगाने वाली कुरीतियों पर प्रहार करते नजर आते हैं। अंग्रेजी नीति पर उनका कथन देखें— "महाराज, सर्कार, अंगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चिन्तानुसार उदारता करता है उस को 'स्टार आफ इंडिया' की पदवी मिलती है।"¹⁷ तत्कालीन समाज पर धर्म के व्यापक प्रभाव से कदापि इंकार नहीं किया जा सकता है। परंतु धर्म के अंदर अधर्म किस कदर अपनी जड़े जमा चुका था इसे भारतेन्दु अपने नाटकों में बार-बार दिखाते हैं। 'प्रेमजोगनी' नाटक का एक पात्र बनितादास मंदिर के महंतों की जीवनशैली पर कहता है, "भाई, मंदिर में रहै से स्वर्ग में रहै। खाए के अच्छा पहिरै के परसादी से महाराज कब्बों गाढ़ा तो पहिरबै न करियैं, मलमल नागपुरी ढाँकै पहिरियैं, अतरै फुलैल, केसर, परसादी बीड़ा चाभो सब से सेवकी ल्यौ, ऊपर से ऊ बात का सुख अलगै है।"¹⁸

भारतेन्दुरचित 'भारत-दुर्दशा' नाटक तत्कालीन हिंदी जाति की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अवनति का दर्पण है। यहाँ इस अवनति में अंग्रेजी रीति-नीति की भूमिका की आलोचना है, सुधार और सांस्कृतिक जागरण की छटपटाहट है, राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति और स्वतंत्रता की चाह है। परंतु साथ ही भारतेन्दु का वही संभ्रम भी कि—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।

पै धन बिदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।"¹⁹

डॉ. रामविलास शर्मा इस पर लिखते हैं, "भारत-दुर्दशा से भारतवर्ष को लेकर नाटक लिखने की एक परिपाटी ही चल पड़ी। इस नाटक की ऐतिहासिक महत्ता अधिक है, अपने-आप उतना अच्छा नहीं बन पड़ा। इसमें रोग, आलस्य, भारत-दुर्दशा, भारत-भाग्य आदि पात्र रूप में आते हैं, इसलिए नाटक में यथार्थ-चित्रण के बदले एक प्रकार की प्रतीक-व्यंजना की प्रधानता है। संभव है राजनीतिक परिस्थितियों के कारण इन्हीं बातों को और स्पष्ट लिखने में कठिनाई होती। उस समय जिस आंदोलन और दमन का सूत्रपात हुआ था तथा खैरखाहों को जो उपाधि आदि दी जाती थी, उस सबकी एक झलक हमें भारत-दुर्दशा के कथन में मिलती है।"¹⁰ यानि भारत-दुर्दशा की पूर्वपीठिका में 1857 की बहुत बड़ी भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता। अपने इस नाटक के जरिये भारतेन्दु ने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की नीतियों की जिस तरह कटु आलोचना की वह आज भी एक दृष्टांत ही है। साहित्य को लोकप्रिय और व्यापक बनाने के उद्देश्य में निस्संदेह नाटकों की भूमिका अग्रणी रही साथ ही जनपदीय भाषाओं के व्यापक प्रचार-प्रसार के एक नई जातीय चेतना के बीज बोये। इस जातीय चेतना के अंतर्गत एक ओर जहाँ सामंत-विरोध का प्रखर स्वर था वहीं साम्राज्यवादी नीतियों की कटु आलोचना भी। भारतेन्दुयुगीन समस्त साहित्यकारों ने जातीय चेतना के इन तत्त्वों को अपने नाटकों में तरह-तरह से बार-बार उठाया है।

भारतेन्दुयुग में निबंध रचना हिंदी साहित्य के लिए एक नई एवं महत्वपूर्ण बात थी हालांकि इन रचनाकारों ने निबंधों के लिए 'लेख' शब्द का व्यवहार किया है। अपनी निजी अनुभूति को सीधे-सीधे पाठक की अनुभूति का हिस्सा बना देने के लिहाज से निबंधों का महत्व निर्विवाद है। भारतेन्दुयुगीन साहित्यकार समाज को जागरुक बनाने के जिस व्यापक मिशन पर निकले थे उसमें ज्यादा से ज्यादा जनता के बीच अपनी अनुभूति, भावनाओं और विचारों का संप्रेषण जरूरी था और निबंधों ने इसमें विशेष भूमिका निभायी। 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' शीर्षक निबंध, जो कि भारतेन्दु के नवंबर 1884 के बलिया के ददरी मेले के व्याख्यान का रूप है, में वे हमारी जातीय

चेतना को झकझोरते हुए कहते हैं, “भाई हिंदुओं! तुम भी मतमतांतर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ, इस महामंत्र का जाप करो। जो हिंदुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग जाति का क्यों न हो, वह हिंदू। हिंदू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिस में तुम्हारे यहाँ बढे, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहै वह करो। देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली हैं, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंग्लैंड, फरासीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दीयासलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। ...हाय अफसोस तुम ऐसे हो गये कि अपने निज के काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। भाइयों, अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करों। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।”¹¹ इस युग के निबंधों में ‘स्वत्व निज भारत गहै’ की प्रबल अभिव्यक्ति मिलती है।

भारतेंदुयुगीन रचनाकारों ने अपने निबंधों में जातीय चेतना, समाज-सुधार, राष्ट्र-प्रेम, देशभक्ति, अतीत गौरव गान, अंग्रेजी शासन के प्रति आक्रोश को हास्य-विनोद व व्यंग्य की शैली में चित्रित किया। इन निबंधों को पढ़ने से मालूम पड़ता है कि व्यक्तिवादी शैली में रचे गये इनके अधिकांश निबंध भी व्यापक सामाजिक चिंता भावना से किस कदर ओत प्रोत थे। ‘भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है’ जैसे स्पष्ट विषयों की खैर कौन कहे, ‘दाँत’, ‘भौं’ जैसे निबंधों तक में जातीय उन्नति, समाज-सेवा, देशप्रेम की भावना प्रकट होती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी ‘प्रेमघन’, बालमुकुंद गुप्त आदि सभी रचनाकारों ने जातीय उन्नति के हित अपने विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु निबंध विधा का भरपूर उपयोग किया।

इस युग में तिलस्मी-जासूसी उपन्यासों के अलावा समाजिक, नीति और उपदेश प्रधान एवं ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये जहाँ प्रसंगानुकूल ढंग से जातीय भावना की अभिव्यक्ति मिलती है। हिंदी साहित्य का प्रथम उपन्यास

‘परीक्षागुरु’ को माना जाए या ‘भाग्यवती’ को जातीय जागरण की अभिलाषा दोनों जगह है। ठाकुर जगमोहन सिंह का ‘श्यामा स्वप्न’, गोपालराम गहमरी का ‘देवरानी जेठानी’, प्रताप नारायण मिश्र द्वारा अनुदित उपन्यास ‘कपाल कुण्डला’, राधाकृष्ण दास का ‘निस्सहाय हिंदू’ किशोरी लाल गोस्वामी के ‘त्रिवेणी’, ‘स्वर्गीय कुसुम हृदयहारिणी’, ‘लवंगलता’, बालकृष्ण भट्ट रचित ‘सौ अजान एक सुजान’ आदि उपन्यासों में जातीय उन्नयन हेतु आवश्यक परिवर्तनों पर चर्चा हुई है। भारतेंदु स्वयं उपन्यास लेखन के प्रति उत्सुक थे। उन्होंने बंकिमचंद्र चटर्जी के प्रसिद्ध उपन्यास ‘राजसिंह’ का अनुवाद शुरू किया था जिसे श्रीराधाकृष्णदास ने पूरा किया।

भारतेंदु युग में सामाजिक चेतना को प्रचारित-प्रसारित करने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम पत्र-पत्रिकाएँ ही थीं। फलतः भारतेंदुयुगीन प्रत्येक रचनाकार और कुछ बाद में था, पत्रकार पहले था। देश, समाज और जाति की प्रगति के साथ-साथ हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के विकास में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने अहम् भूमिका निभाई। इस युग की पत्रकारिता ने जीवन और साहित्य के बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया और लोक जीवन से साधे जुड़ाव का माध्यम बनी। भारतेंदु ने कवि वचन सुधा, हरिश्चंद्र मैगजीन जो आगे चलकर हरिश्चंद्र चंद्रिका के नाम से जानी गई, बालाबोधिनी जैसी पत्रिकाओं का सम्पादन किया। इनसे प्रभावित होकर भारतेंदुयुगीन रचनाकारों ने अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया। श्रीनिवास दास ने ‘सदादर्श’, बाबू बालेश्वर ने ‘काशी पत्रिका’, तोताराम ने ‘भारतबंधु’ का संपादन किया। बालकृष्ण भट्ट का हिंदी प्रदीप, रुद्रदत्त का ‘भारतमित्र’, रामदीन की ‘क्षत्रिय पत्रिका’, प्रेमघन की ‘आनंदकाम्बिनी, प्रताप नारायण मिश्र का ‘ब्राह्मण’ आदि प्रकाशित हुए। ‘सारसुधानिधि’, ‘उचित वक्ता’, ‘हिंदोस्तान’ आदि इस समय के महत्वपूर्ण पत्र हैं।

तत्कालीन पत्रकारों में जातीय चेतना विकासोन्मुख बनाने के लिए पत्रकारिता को अपना साधन बनाया। इस काल के पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य के अलावा अन्य तमाम विषयों के लेख रहते थे, समाचार और विज्ञापन दिये जाते थे। इन पत्रिकाओं में प्रकाशित कविता, नाटक, निबंध, कहानी,

उपन्यास और जीवन चरित्र आदि सभी में देश-प्रेम, समाज सुधार और जातीय प्रगति की भावना निहित है। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक या सांस्कृतिक उथल-पुथल का पहला दस्तावेज ये पत्र-पत्रिकाएँ ही हैं। अंग्रेजी दमन-शोषण की बात हो, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करना हो, महंगाई, टैक्स की समस्या उठानी हो, भारतीयवासियों की दुर्दशा प्रकट करनी हो या उनका समाधान सुझाना हो- पत्रकारिता एक अमोघ अस्त्र बनी। इस युग के प्रत्येक पत्रकार संपादक को धन की चिंता अपनी आजीविका हेतु न थी बल्कि अपने पत्र के संचालन के लिए थी। जातीय- प्रगति, स्वभाषा की नियति, सामाजिक विकास, लोकहित, देशहित इस काल की पत्रकारिता के आदर्श थे।

निष्कर्षतः भारतेंदुयुगीन साहित्य में जातीय चेतना की एक सशक्त अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने विशद लेखन कर्म के द्वारा हिंदी जाति की जिस अदम्य शक्ति से हमारा परिचय कराया, भारतेंदु युग उसकी सबसे ज्वलंत मिशाल पेश करता है। भारतेंदुयुगीन साहित्य की सभी महत्वपूर्ण विधाओं का विश्लेषण करके हमने पाया कि यह साहित्य सामन्तवादी और साम्राज्यवादी कुचक्रों के समान भाव से जूझते हुए एक नई दिशा का सूचक बना। भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों ने अपने समय के धर्म, भाषा और जाति-पाँति संबंधी मुद्दों पर जिस प्रगतिशील दृष्टि का परिचय दिया, उससे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। निज भाषा उन्नति के सूत्र-वाक्य के माध्यम से एक विकसनशील जाति की एकता, स्वाभिमान, प्रेम-सौहार्द की झाँकी पेश करता यह साहित्य आज की विखंडनकारी मानसिकता का प्रतिरोध है। भाषा-बोली, धर्म, जाति-बिरादरी के आधार पर जो क्षेत्रियतावादी, साम्प्रदायिक शक्तियाँ अपना सिर उठा रही हैं, हमने पाया कि भारतेंदु युगीन साहित्य उनसे लड़ने के हथियार मुहैया करा सकता है।

संदर्भ :

1. शर्मा रामविलास, भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, खंड-1, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 2008, पृ. 10
2. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली, खंड-4, सं.- ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 377
3. शर्मा रामविलास, भारतेंदु-युग और हिंदी भाषा की विकास-परंपरा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, परिवर्द्धित पहला संस्करण, 1975, पृ. 100
4. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली, खंड-4, सं.- ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 374
5. प्रताप लहरी, संग्रहकर्ता- श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा व श्री सत्यभक्त, भीष्म एंड ब्रदर्स, कानपुर, प्रथम बार, 1949, पृ. 63
6. प्रेमघन-सर्वस्व, सं. श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय व श्री दिनेश नारायण उपाध्याय 'साहित्य रत्न', हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथमावृत्ति, संवत् 1996 वि., पृ. 185
7. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली, खंड-1, सं.- ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 67-68
8. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली, खंड-1, सं.- ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 91
9. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली, खंड-1, सं.- ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 114
10. शर्मा रामविलास, भारतेंदु-युग और हिंदी भाषा की विकास-परंपरा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, परिवर्द्धित पहला संस्करण, 1975, पृ. 50
11. भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली, खंड-6, सं.- ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 71

संपर्क : मो. 9331265343

सिद्ध और नाथ साहित्य लोक-भक्त्य है, शास्त्र-भक्त्य नहीं

अरुण प्रसाद रजक

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
गोरुबथान गवर्नमेंट कॉलेज, दार्जिलिंग

हिंदी साहित्य को देखने और समझने की वही दृष्टि विद्वानों, साहित्यकारों, शिक्षकों एवं विद्यार्थियों में सर्वमान्य रही है, जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में पेश किया है। हिंदी साहित्येतिहास लेखन की व्यवस्थित, क्रमबद्ध और प्रामाणिक कार्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया। आचार्य शुक्ल के 'व्यवस्थित, क्रमबद्ध और प्रामाणिक' इतिहास लेखन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि भारत के एक महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील दर्शन की धारा के विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न साहित्य की शाखा को यथोचित स्थान नहीं दिया गया। साहित्येतिहास के मोटे-मोटे ग्रंथ लिखे गये जिनमें सिद्ध और नाथ साहित्यकारों को अछूत की तरह जमीन के एक कोने में बैठाने की बित्ता भर जगह तो दे दी गई, साहित्य के खाट पर बराबर बैठने की इजाजत कभी नहीं मिली। रोचक बात तो यह है कि साहित्य की मुख्यधारा वाले मठीधीशों ने सिद्ध-नाथ साहित्यकारों को अपने स्वनिर्मित विशाल भव्य भवन में मामूली सी जगह देकर अपनी उदारता पंजीकृत करा ली।

सिद्ध और नाथ साहित्य उस समय लिखा गया, जब हिंदी अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हो रही थी। सिद्ध धर्म के वज्रयान शाखा के अनुयायी उस समय सिद्ध कहलाते थे। इनकी संख्या चौरासी मानी गई है। सरहपा (सरोजपाद अथवा सरोजभद्र) प्रथम सिद्ध माने गये हैं। इसके अतिरिक्त शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कणहपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध साहित्य के प्रमुख कवि हैं। ये कवि अपनी वाणी का प्रचार जन भाषा में करते थे। उनकी 'सहजिया प्रवृत्ति' मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को केंद्र में रखकर निर्धारित हुई थी। इस प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वछंदता को जन्म दिया, जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरु हुआ। नाथ-साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुंचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए। नाथ-संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्त्वपूर्ण थे। उनकी कई रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पंथ के प्रमुख कवि हैं। इस समय की रचनाएँ साधारण दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं। कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

सिद्ध और नाथ साहित्य फरमानी तौर पर सांप्रायिक साहित्य है। मसलन, आचार्य शुक्ल

कहते हैं- “सिद्धों और योगियों का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आती।”¹ हिंदी साहित्य का पहला व्यवस्थित इतिहास लिखने वाले आचार्य शुक्ल की बड़ी कामयाबी इस बात में रही है कि उन्होंने हिंदी जनमानस में इस बात को पूरे विश्वास के साथ बैठा दिया कि सिद्धों-नाथों की बानी तो ‘गुह्य, रहस्य और सिद्धि’ लेकर उठी थी। राजस्थान प्राच्य विद्यापीठ, जोधपुर से वर्ष 1997 में ‘राजस्थान में नाथ संप्रदाय और साहित्य’ शीर्षक से प्रकाशित ‘राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला’ के अंक 1990 में दीनदयाल ओझा जैसे कतिपय विचारकों ने भी आचार्य शुक्ल की तरह नीच जातियों से संबद्ध और अशिक्षित लोगों पर ही नाथ पंथ का प्रभाव होना बताया है, तो प्रो. बृजबिहारी जैसे विद्वान ने कुछ कापालिक, कौल व बौद्ध सिद्धों द्वारा प्रयोग की गयी वामाचार तथा ब्रजोली क्रियाओं के अवगुणों को नाथ संप्रदाय से जोड़ने का उपक्रम करते हुए अत्यंत क्षीण स्वर से इन दोनों संप्रदायों को सामाजिक मूल्यों से रहित होना माना है।

जरूरत इस बात की है कि साहित्यासन पर पदासीन शक्तियों द्वारा इस तरह की पुरस्कार-नवाजी के मोहफाँस से मुक्त होकर बात की गहराई तक जाया जाए। सिद्ध-नाथ साहित्य को परंपरा का अंग बनाने के लिए व्याख्या के परंपरावादी-पवित्रतावादी तर्क या कलावादी सौंदर्यानुभव का फॉर्मूला या यथास्थितिवादी नवीनता का तर्क अथवा काव्यशास्त्रीय लक्षण कारगर नहीं है। हिंदी साहित्य की परंपरा को ठीक से निर्धारित करने के लिए तत्कालीन दौर के सिद्ध-नाथ साहित्य को ठीक से पढ़ने जाने की जरूरत है। हिंदी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि आदिकाल से दो प्रकार का साहित्य क्रियाशील रहा है- मानक हिंदी साहित्य और हिंदी साहित्य का लोक साहित्य। संस्कारों की एकरूपता मानक संस्कृति का आधार है, जबकि संस्कारों की विविधता और सहजता

लोक संस्कृति की सूचक है। इसे शास्त्र और लोक का द्वंद्व कह सकते हैं। वीरगाथा काल का रासो-साहित्य मानक साहित्य की कोटि में आता है। इस साहित्य के केंद्र में राजा, महाराजा, सामंत और महंत रहे हैं। मानक भाषा में अभिजातवर्गीय पात्रों की संस्कृति वर्णित रही है। वीरगाथा काल से 150 वर्ष पूर्व नाथ और सिद्ध कवियों ने लोक बोलियों और मिली जुली संपर्क भाषा में लोक संस्कृतमूलक काव्य की रचना की। इनकी रचनाएँ प्रत्यक्षतः भावप्रधान हैं और इनमें से प्रत्येक पर उसके रचयिता के व्यक्तित्व की छाप लगी हुई है। इन कवियों ने अपने जीवन का निर्माण स्वानुभूति एवं स्वतंत्र विचारधारा के अनुसार किया है जिस कारण यह न तो किसी विधि-निषेध की पाबंद है और न किसी प्रचलित कार्यपद्धति का अध्यानुसरण करने के लिए ही बाध्य है। यह अपनी भावाभिव्यक्ति के प्रयास में कतिपय पद्यमयी पंक्तियाँ कही जा सकती हैं जो इसके हृदय से स्वतः निःसृत होती हैं। सरहपा का व्यक्तित्व उस रचनात्मकता की पृष्ठभूमि है जो जीवन और काव्य को शास्त्रीय दृष्टि से नहीं, लोकानुभव की दृष्टि से देखने का आधार देती है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ‘हिंदी काव्यधारा’ में उनका जो पद सबसे पहले दिया है, उस पर गौर किया जाय-

“अलि ओ! धम्य महासुह पइसइ/लवणो जिमि पाणीहि विलिज्जई,

मन्तह मन्ते सन्ति न होई। पिउल की उटुउ होई॥

तरुफल दरिसण पाउ अग्धाइ/बेज्ज देखि की रोज पलाई॥

जाव ण आय जणिज्जई, ताव ण सिस्स करेइ।

अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, ‘वेण्ण’ विकूत पडेइ॥”²

सरहपा कहते हैं कि धर्म के महासुख में वैसे ही प्रवेश करो, जैसे नमक पानी में घुल जाता है। मंत्र से मंत्र की शांति नहीं होती, प्रतिलब्धि का होता है क्या? तरुफल देखकर कोई अघाता है क्या? बैद्य को देखकर रोग भागता है क्या? सरहपा के इन बातों से स्पष्ट है कि वे जीवन-व्यापार को भौतिक क्रिया के रूप में इन्द्रियबोध की परिणति के रूप में देखते हैं। उदात्तता तब आ मिलती है, जब वे कहते हैं कि अन्धा अन्धे को लेकर चले तो दोनों कुएं में गिर जाएँगे। भिक्षा पाकर भिक्षा दो, दुनिया को, जीवन को

समझकर उनका मार्ग-दर्शन करो। मंत्र शक्ति से यह सब काम नहीं होने वाला। यहां सरहपा लोकानुभव के बल पर शास्त्रार्थ की आलोचना करते हैं। लोकानुभव के ही तर्ज पर गोरखनाथ ने एक स्वस्थ समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। 'गोरखबानी' में गोरख के शब्द हैं-

“षायें भी मरिये अणषायें भी मरिये।

गोरख कहैं पूता संजमि ही तरिये॥

मधि निरंतर कीजै वास।

निहचल मनुवा चिर होइ सास॥”¹³

अर्थात् अघाकर खाना भी मौत है, बिल्कुल न खाना भी मौत है। गोरख कहते हैं कि हे पुत्र! इन दोनों में संयम करने से ही मुक्ति हो सकती है, इसलिए मध्यम रहना ही चाहिए जिससे मन निश्छल हो और श्वास स्थिर हो।

गोरखनाथ और नाथ संतों का ज्ञान किसी शास्त्र पुराण नहीं, अपितु सहज लोकानुभव और लोक व्यवहार का था, जिसे वह जी और भोग रहे थे, क्योंकि ब्रह्मचर्य, आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध, सिद्धावस्था के विविध अनुभव ऐसा कुछ भी नहीं जिसके व्यवहार को छोड़कर शास्त्र का आधार लेना पड़े। यहाँ नीरा 'योगसाधना' या 'श्वासनिरोध' नहीं है, बल्कि जीवन में मध्यममार्ग का महत्त्व बतलाया गया है। बौद्ध धर्म मध्यममार्ग का समर्थक है और यह दर्शन सिद्धों और नाथों में भी देखा जा सकता है। आज ऐसे समाज की परिकल्पना जरूरी है जिसमें अमीर-गरीब, सवर्ण-अवर्ण, एक धर्म-अन्य धर्म की दूरियों को मिटाया जा सके। जरूरत 'मधि निरंतर कीजै वास' के अर्थ विस्तार की है। गोरखनाथ का लोकानुभव यज्ञ और पंडित, ऊँच-नीच आदि की विभाजक रेखा नहीं खींचता। वह मनुष्य मात्र के लिए है। गोरखनाथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने हठयोग का प्रवर्तन कर नाथ संप्रदाय को भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल बनाया। उन्होंने एक ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परंपरागत रूढ़ियों का कठोरता से विरोध किया, वहीं सामान्य जन को अधिकाधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए योग मार्ग का प्रचार प्रसार किया।

सिद्ध और नाथ साहित्य में लोक विमर्श के तत्त्व प्रमुख रूप से मौजूद हैं। आचार्य शुक्ल जैसे प्रखर समीक्षक ने

नाथ और सिद्ध कवियों की रचनाओं को सांप्रदायिक कहकर खारिज कर दिया। उन्हें लोकभाषा में रचा गया लोक-संस्कृति का मूल काव्य सांप्रदायिक परिलक्षित हुआ। जनता को संजीवनी प्रदान करने वाला साहित्य शुक्ल जी को बेठिकाने का लगा क्योंकि शुक्ल जी के अनुसार सिद्धों-नाथों का प्रभाव 'नीची एवं अशिक्षित' जनता पर पड़ा, और यह भी कि 'शिक्षित जनता' की प्रवृत्तियों के अनुसार साहित्य में परिवर्तन आता है। शुक्ल जी का इतिहास विधाता 'शिक्षित जनता' है, इसलिए 'अशिक्षित जनता' की चित्तवृत्ति को साहित्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करना उनके लिए जरूरी था। शुक्ल जी 'अशिक्षित जनता' के नाम पर लोक-विमर्श के बड़े क्षेत्र को त्याग देते हैं। सिद्धों-नाथों की प्रगतिशील वाणी शास्त्र ज्ञान के विरुद्ध खड़ी थी। वे शास्त्र और ग्रंथों की सारहीनता बताकर पंडितों एवं पण्डों को बेजोड़ चुनौती देते थे। शुक्ल जी इस प्रवृत्ति को इस दृष्टि से देखते हैं कि सिद्धों-नाथों में 'संस्कृत-बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी' का अभाव था क्योंकि इन दोनों संप्रदायों में "जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आए जो शास्त्रज्ञान संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था। पर अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रज्ञ पंडितों और विद्वानों को वे फटकारना भी जरूरी समझते थे।"¹⁴

सच्चाई और ईमानदारी का तकाजा है कि यह स्थापना एक विश्लेषण की मांग करता है। गहराई से विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि सिद्ध और नाथ साहित्यकार अपनी रहस्यदर्शिता प्रदर्शित करने एवं जनता को चमत्कृत करने के लिए शास्त्रों की आलोचना नहीं करते थे, बल्कि समाज में समरसता को स्थापित करने के लिए बाह्यण, शैव, शाक्त, जैन आदि के साथ-साथ बौद्ध दर्शन में आयी रूढ़ियों का भी उन्होंने खुलकर विरोध किया। सरहपा के 'दोहाकोष' में धर्मान्धता, बाह्यडाम्बर और कठमुल्लापन का विरोध देखने को मिलता है। सरहपा ब्राह्मण की वेदपाठी परंपरा का विरोध करते हुए कहते हैं-

*“ब्रह्मणेहि म जानन्तीह भेड/ एव पठिअउ- एचउवेड
मट्टि पाणि कुस लई पठन्त/ धरहि वहसी अग्नि हुगन्त॥”¹⁵*

गोरखनाथ ने तो वेद शास्त्र पठन को धंधाबाजी कहा है।

यथा:

“वेद न साखे कतेबे न कुराणे पुस्तके न बंच्चा जाई।
ते पद जानां बिरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई।”⁶

ये कवि मानते थे कि वेद और शास्त्र की परंपरा ने समाज के बड़े हिस्से का हाशियाकरण किया हुआ है। लेकिन विडंबना यह हुई कि मुख्यधारा के साहित्यिक ठेकेदारों द्वारा इन कवियों का ही हाशियाकरण कर दिया गया। इस अपराध में कि ये शास्त्रज्ञान संपन्न न थे। लेकिन महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन आलोचनाओं के विरुद्ध अपने तर्क दिये हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक ‘पुरातत्त्व निबंधावली’ में कई स्थानों पर सशक्त तर्क दिए हैं। उनका मत है कि “सिद्धों के लिए कवि होना अनिवार्य था, ताकि वह सुगम, सरस और सरल रीति में अपनी बात आम जनता तक पहुँचा सके। इसके साथ ही कई सिद्ध संस्कृत कि प्रकाण्ड विद्वान और ग्रंथाकार भी थे। विद्वता के साथ ही देशी भाषा में कविता करना इनका गुण था। इसी कारण वे विज्ञ से लेकर अल्पज्ञ और अनपढ़ तक अपनी बात पहुँचाने में सक्षम थे।”⁷

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी अपनी पुस्तक ‘हिंदी साहित्य का आदिकाल’ में स्थापित किया है कि आचार्य शुक्ल ने जिस मापदंड के आधार पर सिद्धों-नाथों की रचनाओं को खारिज किया है, उसी मानदंड को पूरी तटस्थता से हिंदी साहित्य में लागू करने से भक्तिकालीन बहुत से कवि साहित्येतिहास से बाहर कर दिये जाएँगे। आदिकालीन साहित्य में हजारी प्रसाद द्विवेदी का हस्तक्षेप एवं सिद्धों-नाथों की स्थापना उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

चूँकि कविता की शुरुआत सिद्धों-नाथों से होती है, इसलिए उनके काव्य के अल्हड़पन में भी विचित्र नैसर्गिक मनोरमता का अनुभव होता है। लोकबोलियों और लोक भाषा में रचा गया उनका काव्य उन वनराजि का स्मरण दिलाता है, जिसके वृक्षों का सौंदर्य किसी औद्योगिक सुव्यवस्था की अपेक्षा नहीं करता, अपितु उनके नैसर्गिक विकास पर अवलंबित रहता है। सिद्ध-नाथ साहित्य लोक-विमर्श का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है।

संदर्भ:

1. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2006, पृ. 10
2. सांकृत्यायन राहुल, ‘हिंदी काव्यधारा’, किताब महल, इलाहाबाद, पृ. 02
3. बड़थवाल, पीताम्बर दत्त (संपादक), ‘गोरखवाणी’, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, संवत् 1990 वि., पृ. 51
4. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2006, पृ. 10
5. सांकृत्यायन राहुल (संपादक), ‘दोहा-कोश’, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण, संवत् 1990 वि., पृ. 02
6. बड़थवाल, पीताम्बर दत्त (संपादक), ‘गोरखवाणी’, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, संवत् 1990 वि., पृ. 03
7. सांकृत्यायन राहुल, ‘पुरातत्त्व निबंधावली’, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1937, पृ. 291

संपर्क :

गोरुबथान गवर्नमेंट कॉलेज, दार्जिलिंग- 735231, मो. 8100935197

महेन्द्र गगन

हाथ: कुछ कविताएँ

एक	सूरज आपका
अपने एक हाथ में	तो लिये जावोगे
लगी हो चोट	हाथों हाथ
तो सहलाने को चाहिए	छः
दूसरा हाथ।	स्वाभाविक है
हाथ	किसी के अभिवादन में
इसी तरह निबाहते हैं	सहज ही
एक दूसरे का साथ।	उठ जाएँ
दो	या मिल जाएँ
गर हाथ में	आपके हाथ
हो हाथ	सात
तो	तेज भागते समय में
बन जाती है	बैठे नहीं रह सकते आप
बिगड़ी बात	धरे हाथ पर हाथ
तीन	आठ
काम	कितनी अजीब लगती है
छोटा हो या बड़ा	आज
उसमें होता है	टुड्डी पर हाथ धरे
कड़ी मेहनत का हाथ	शून्य में देखती
चार	तस्वीर
हर एक	नौ
घपले/घोटाले में	इतना
होता है	रहस्यमय है आदमी
कोई ना कोई	नहीं जानता
अदृश्य हाथ	दायाँ
पाँच	कि क्या करता है
चढ़ रहा हो	बायाँ हाथ।

उसकी खबर

घर-घर मालकिनें	मालकिनों की काया का कष्ट
उसके इंतज़ार में है।	उसे दी जा रही गालियों, उलाहनों से
इंतज़ार में है,	प्रकट होता है।
आँगन, चौका, बासन	उनके क्रोध का कहर
बड़े घरों की गंदगी,	बर्तनों, सामानों की आवाजें बतलाती हैं।
क्रोध, कुण्ठाएँ और झिड़कियाँ।	दुनिया की सबसे
इंतज़ार में है	बुरी औरत होती है वह
पुरुषों की बदन घूरती निगाहें।	उनके लिए
	उस दिन।
तेज कदमों से भागती वह	उस दिन
नापती है मोहल्ला	उन्हें क्या मालूम
घड़ी-घड़ी मिलाती समय	कि वह होगी अपने किस दुःख में
हर घर का	संभव है
बगैर घड़ी।	नशे में डूबे पति की मार से
थुल-थुल मालकिनें	आहत हो उसका अंग-अंग
पसरी पलंग पर	संभव है
उसके आने तक	बच्चों की बीमारी में
जपती है उसका नाम	जागी हो वह रात भर
आते ही उसके	या कि
राहत की लहर दौड़ जाती है	रात भर की बारिश ने
पूरे घर में	उसके घर को
मुस्कुरा उठता है	तालाब में तब्दील कर दिया हो।
घर का कौना-कौना।	उसके दुःखों से बेखबर
किसी एक दिन	कल उसके आने पर
उसके ना आ पाने की सूचना	घर-घर
तूफान ले आती है घर में	ली जाएगी उसकी खबर।

संपर्क :

सम्पादक (पहले-पहल)

25-ए, प्रेस काम्पलेक्स, महाराणा प्रताप नगर,
भोपाल- 462011, मो. 9425011789

श्री हर्ष

शब्दों का शोर

शब्दों का शोर- बादलों की गर्जन बन
दहशत फैलाता है- सुनने वाला
बचाव का रास्ता खोजता है।
सतरंगे सपनों की बारात
ढोल बजाती आती है पोल को लपेटकर
गायब हो जाती है
शब्दों का शोर मंडराता रहता है
बार-बार ठोकर खाना- घायल होकर
ताली बजाना आदत हो गई है
हँसते हँसते शोर ताली बजाता है
मंडराता रहता है
पुराने संस्कार
गला दबाकर झकझोरते हैं
ऊपर ऊपर हँसते हैं भीतर भीतर रोते हैं
रोने की आवाज सुनकर- शब्दों का शोर
पराजय के आईने में डूब जाता है।

भीतर का दर्द

भीतर का दर्द जब भी
उमड़ता है
गोपनीयता को उजागर
करता है।
खामोशी के साथ उछलता है
छलांग लगता है- खारापन
थूकता है
आँसुओं का अमृत पीकर- शायद

पसरी हुई रेत

पसरी हुई रेत की गोदी में
एक छोटा सा 'टी बा' हँसता खेलता
चुपचाप चौबीसों घंटा ताकता रहता है
आसमान को
रेत समझाती है- दिखाती है घाव
बिखरा हुआ सच।
जब भी हवायें आँधी का
रूप धारण कर आती हैं
वह कंधे पर चढ़ आसमान छूने की
करता है चेष्टा
हवायें रूख बदलकर भटक जाती हैं
लौटकर फिर आसमान को देखता है।
छोटी छोटी इच्छायें इतना बड़ा लक्ष्य
आधार पसरी रेत ?
धूप की लपटों में उबलती रेत
फैलते लू के अंगारों से बचाती है।
'टी बा' धुन का पक्का- छोड़ता नहीं हठ
बिखर जायेगा- छुयेगा आकाश
पसरी रेत की गोदी में।

चुप हो जाता है ?
भीतर का दर्द- चुपचाप
गहरे घाव करता है
लहरें दूर दूर तक लहराती हुई
जाती हैं
धरती के सच से मुठभेड़
होते ही
दर्द पिघलकर बह जाता है।

संपर्क : हर्ष भवन, बेनिसार भवन के बाहर, बिकानेर, राजस्थान-334004 मो. 09352091663

ओमप्रकाश अडिग

मेरा अकेलापन

यह अनावृत्त भीड़,
 घेरे हुए मेरा अकेलापन।
 अकेलापन,
 जिसने कर दिया जीवन उदास
 मौत सा सुनसान।
 न कुछ कह सकते कथाएँ हम,
 न रो सकते व्यथाएँ हम।
 बस समय की दीवार पर टंगते हुए,
 देखे हँसते हुए चेहरे
 अपरिचित या कि
 धुंधले परिचितों के।
 सुन रहा हूँ,
 वार्ता कुछ हो रही मेरे विजय में
 किंतु मुझसे बात करता,
 कौन जग में,
 ये समीक्षक, समालोचक,

शोर करते,
 देख कर मेरी उदासी।
 अंगुलियाँ मुँह पर धरे,
 मौन करते
 आ रहे जो नवागंतुक।
 खींच करके रोज मैं दिन तोड़ता हूँ,
 रात भर मैं जोड़ता हूँ,
 पर सबेरे देखता हूँ,
 पुनः कल सा,
 हर क्षितिज,
 व्यंग मुझ पर कर रहा है,
 परिवर्तनशील ऋतुएं,
 घुमते से दृश्य सारे,
 हैं बदलते
 और मेरापन बदलता।
 मैं अब तक चेतना था,
 चेतना से शून्य अटका हूँ अकेला।।

शुद्ध का मीत गया

सब कुछ बीत गया।
 क्षण में बीत गया।
 जितना मुखर हमारा पन था,
 उतना मौन हुआ।
 सबने छुआ हमारा जीवन,
 तुमने नहीं छुआ।
 कुंडी खटका करके मेरे,
 सुख का मीत गया।
 जितना बहलाया अपने को,
 उतना दर्द हुआ।

मेरा कण भर गात किसी भी—
 सुख ने नहीं छुआ।
 यूँ हारा विश्वास हमारा,
 जैसे जीत गया।
 कुछ भी शेष नहीं रह पाता,
 ऐसा शून्य हुआ।
 फैला मेरे मैदानों में,
 झुलसा सा बरुआ।
 जब तक ज्ञान सहेजूँ जीवन—
 का घट रीत गया।
 सब कुछ बीत गया।।

दूध-दांत

वर्षा के बादल सी,
घहर-घहर आती क्यों,
बिनरंगी उदासी यह।
ऐंठन सी रग-रग में,
भर देती पुरवैया।
खिड़की से आती या
छत पर से चू पड़ती,
मटियाली बूंद एक
जैसे इस जीवन में
कोई क्षण आता है,
बातें कह लेने को।
दूर वृत्त धुंधलापन,
निराश्रित जीवन सा-
घुमड़ा है।
नित्य संध्या को
लाली छा जाती जब,
जीवन की खुशियों के-
दिखते हैं दूध-दांत।

अपनी नजर में

सब गए यूँ छोड़कर के, ताकते हम रह गए।
फिर स्वयं अपनी नजर में, हम स्वयं कम रह गए।
बाढ़ में उतरे हुए, ए सीप घोंघे।
टूटकर छितरे पड़े हों, स्वप्न डोंगे।
व्यक्ति हमसे सब बटोरे जा रहे हैं,
जिंदगी भर जो निभाए, वे नियम यम रह गए।
खेल करके सब गए पर लड़ रहे हम।
इस तरह की चोट पाई, उर गया मेरा सहम।
जोड़ बाकी सब लगाया जिंदगी में,
किंतु देखा शेष में अपने हुए गम रह गए।
लोग कहते हैं न खेलो तुम अमन से।
मत जलो तुम जिंदगी भर यूँ जलन से।
देखता मैं हूँ कि सब कुछ जल रहा है,
मौन कातर नीर भरकर ये नयन नम रह गए।
फिर स्वयं अपनी नजर में हम स्वयं कम रह गए।।

आकाशगंगा

नील नभ के गहन तम से,
ज्योति की धारा बनाती।
स्वप्न सतरंगें जगाती।
वह रही आकाशगंगा।।
व्यक्ति के जैसे निराशा,
मूक होकर सहम न जाती है
और अपनी ही न भाती,
चित्र फिर से है सजाती।
वह रही आकाशगंगा।।
ज्योति के कण-सम्मिलित हों,
पुण्य इसका पथ बनाते।
प्रेम के रथ क्यों न आते।
साधना जिस पर बिठाते।
सुयश जिसका देव गाते।
वह रही आकाशगंगा।।
अस्तित्व खोकर ही बना है,
सूर्य जो निज को जलाता।
कौन है संतुष्टि पाता।
एक क्षण वैभव रमाता।
कौन लहरों में बहाता।
वह रही आकाशगंगा।।

संपर्क:

गीतायन 459, रोशनगंज, शाहजहाँपुर-242001
(उ.प्र.), मो. 09936141826

डॉ. सुवंश ठाकुर 'अकेला'

तभी आएँगे अच्छे दिन

नहीं लगाने पड़ेंगे ताले मकानों में
 नहीं घुसके रहेंगे पड़ोसी घरों में
 फाइलें होंगी खुली किताब ऑफिस की
 नहीं कटेगी गर्दन कबूतर की
 नहीं जलेगी बेटियाँ दहेज की आग में
 पालन करेंगे बेटे-बेटियाँ मर्यादा की
 व्यस्ततम शहरों में भी
 रुक जायेंगे सारे वाहन
 सड़क किनारे कराहते लोगों को देख
 सुरक्षित दिखेगा बूढ़े और औरतों का जीवन
 नहीं बिकेगा बालपन मिल-मालिकों के हाथ
 रात अधिक निर्भीक होगी दिन से
 राष्ट्रभक्ति सिखायेगी हमारी शिक्षा
 नहीं रहेगा वर्चस्व पूंजीपतियों का
 भागीदारी होगी आम जनता की
 देश के विकास में निःस्वार्थ
 सीमा पर बारूद उगलने वालों को
 कस दी जायेगी नकेल
 लौटना चाहेगा गाँव
 शहर आए हुए लोगों का मन भी

नहीं पछताना पड़ेगा किसानों को
 मजदूरों के घर भी मनायी जायेगी
 होली और दिवाली
 नहीं होगी कालाबाजारी और
 रोक लग जायेगी मिलावटों पर
 दोस्त समझ सकेंगे दुःखों को
 बिना बताये
 सिर्फ ईमानदारों को मिलेंगे चुनावी टिकट
 एम.पी. और एम.एल.ए. के
 घटती जायेगी जरूरतें नेताओं की
 बढ़ती जायेंगी संपत्ति देश की
 सत्य को स्वीकारेंगे नेता और मंत्री
 स्वीकारेंगे अपनी गलती थैथरई छोड़कर
 और वे बनें राष्ट्र के आदर्श व्यक्तित्व
 जन-जन के मन में पलेगा
 स्वहित से पहले देशहित
 कि साहित्य नहीं बनेगा सिर्फ
 हंगामा और पुरस्कार
 कि भिन्नताओं में दौड़ेगा एकता का खून
 तभी आएँगे अच्छे दिन, मिलेगा सुकून!

आदमी को इन दिनों

पहनाया जाता है
आदमी को इन दिनों
उसके वस्त्राभूषण से
उस पर छींटे गए
इत्र की खुशबू से
गंधाती काँख की बदबू पर!
पहचाना जाता है आदमी को इन दिनों
उसके आलीशान बंगले से
लक्जरी कार से
नौकर-चाकर और सिपाहियों से
तड़क-भड़क और तामझाम से
पैरवी-पैगाम से! तलधर में कल्ल!
पहचाना जाता है
आदमी को इन दिनों
उसके पद से माल-असबाब से
सियार की देह पर चढ़े
बाघ की खाल से
और काले कोबरे पर
चरपाये गए नायसिल पाउडर से!
क्या हो गया है
आदमी को इन दिनों
खूब लगता है मन
नीम के चिकने डंडे पर तेल मालिश करने में!
पहचाना जाता है
आदमी को इन दिनों
उल्टी खोपड़ी से
सब कुछ तार-तार करवाकर
आजीवन पछताने के लिए!

कैसे अभिव्यक्त करूँ

इन बीहड़ों को, इन हेहरों को
कैसे अभिव्यक्त करूँ?
अपनी निष्कलुष कविता में,
कि कविता
कविता नहीं रह पाएगी,
कि कविता की भी
कोई सीमा होती होगी!
कि जब सृष्टि करने लगे
पिशाच ही मायावी चमत्कार से
तो कैसा धिनौना होगा
वह अविश्वसनीय दृश्य!
कि कैसे उग पायेंगे?
करुणा के बीज
धरती के आँचल में!
कविता हमारी उपयोगी बीज
निर्मम बेजान पत्थरों में भी
आज नहीं तो कल,
स्वतः समाप्त हो जायेगी
पिशाची सृष्टि
और उग आएँगे मानवता के बीज
गुनगुनायेगी हमारी कविता
करुणा के गीत,
पीठ पर लाठी
और सीधे मुँह पर दरिदों के
मुक्के की मार सहकर!

संपर्क:

‘शिल्पायन’ सिपाही टोली, चूनापुर रोड
उत्तर गली नं.-11, पूर्णिया- 854301 (बिहार) मो. 9973264550

सुसंस्कृति परिहार

बच्चे की गेंद ने

बच्चे की गेंद ने
 नाप लिए धरती आकाश
 जितने हैं पुष्प सुरभित
 उतनी महक उनकी हंसी में
 उतनी ही चमक फूलों की
 कोमलता कलियों की
 भोलापन पंछियों का
 आज्ञाकारिता इतनी गेंद में
 जितनी नहीं पौराणिक आख्यानों में
 बच्चे की गेंद
 पहुँचेगी सदियों को फलांगती
 उछलती कूदती बच्चों को हंसाती
 संसार के मैदानों में
 सारे संसार को लुभाती
 बड़ों को बच्चों का खेल सिखाती
 बच्चे की गेंद से
 सीख लेंगे नर्तक
 सीखेंगे कम्प्यूटर सहजता
 राजनैतिक सीखेंगे मानवीयता
 युगों से नाता जोड़ती है गेंद
 नापती है दूरियाँ युगों की गेंद
 आती है हथेली में बच्चों के

जब जब भी गेंद
 पूरी पृथ्वी गेंद की तरह हंसती है
 मातृत्व को उसके मिलता है अर्थ
 बच्चे की गेंद के आगे
 फीके हैं सारे महाभारत
 मोहक इतनी प्राणवान इतनी कि
 पत्थर की मूरत खेले अगर
 जिन्दा हो जायें कोर्णाक और
 खजुराहो की रूपसियाँ
 कृष्ण खेलें तो
 नदी हो जाये खेल का मैदान
 और नाग कालिया
 लिया जाये नाथ
 बच्चे की गेंद पर मोहित
 एक साथ
 क्रूरता और प्रकृति का मातृत्व
 रहेगी उछलती कूदती टप्पे खाती
 जब तक है
 एक भी बच्चे की गेंद
 बची रहेगी पूरी पृथ्वी
 सलामत रहेगा हँसता आकाश

बिजली का खँभा

मेरे घर के सामने
लगा है एक बिजली का खँभा
और उस टिमटिमाता
चालीस वाट का बल्ब
बल्ब घोर अँधकार में
दूर तक फँकता प्रकाश
बताता रास्ता
बचाता कांटों और
जहरीले कीड़ों से
नुकीले पत्थरों से
घनघोर सतत वर्षा में भी
बल्ब जलता है मुस्कराता हुआ
रहता है कार्यरत्
कंपकपाती ठंड में भी
शान से रहता है डटा
बिजली के खँभे पर कत्तव्यरत
इसी बिजली के खँभे के
बल्ब से छनकर आती
रोशनदान से घर
में आती रोशनी
घर की लाईट गुल होने पर
हल्के दिलासा देते स्पर्श से
लगते
बिजली के खँभे से बाँधी जाती
गाय
बैलगाड़ी के बैल
इसी के नीचे टिक जाती
बिना स्टैंड की साईकिल
और इसी के सहारे
बूढ़ी पटेलन टेक लगाकर
लगा लेती छोटी सी
सब्जी की दूकान
इसी के सहारे हमारा

घर पहचाना जाता
लोग कहते उस बिजली के खँभे
के दाहिने वाला घर
बिजली का यह खँभा है
चिड़ियों के घोंसले का आधार
और हमारे घर में शामिल
हो गया है यह
रोजमर्रा की चीजों की तरह

बुधह भे ही...

सुबह से ही
होने लगता है
दूध वाले का इंतजार
सुबह से ही
जाग जाता समाचार
पढ़ने और सुनने की भूख
पति की जरूरतों की
पुकार दर पुकार
सुबह से ही
गृहणी घर में व्यस्त
होती है/सब भूल
रोटी पन्ना की ले खिचड़तान
सुबह से ही
बच्चे स्कूल निकलते
घर से भागते भागते
सुबह की आ जाता
भिखमंगा कटोरा खनकाता
आप कहते हो महाराज जी
शुद्ध हवा लो
पंछियों के स्वर सुनो
कसरत करो
कभी औरत बन के देखो
महाराज
तुम्हें अपने वचन स्वयं के
दुश्मन लगेंगे।

समुद्र

समुद्र है
दहाड़ मारकर रोती मजदूरनी
संस्कृति की
ठँडी लाश पर
गुस्से से फन पटकती
चोट खाई काली नागिन
रेलवे पुल के ऊपर से
गुजरती खाली मालगाड़ी की
घनघोर धड़कने
काले परदे पर अट्टहास करता
खलनायक
इतना ही नहीं है समुद्र तट
है ठँडी बयार
सीपियों और शंखों की
सपनों भरी रात में
क्वारी मछलियों की अठखेलियां
समुद्री रेत पर
एक जोर की मोहलत ले खड़ा
कमसिन काला लड़का
जो नहीं तय कर पाया कुछ भी
अपने घर जाने
या अपना घर बनाने के बारे में आज तक
सच तो ये है
कि हर लड़की
डरते डरते प्यार करती है
प्यार करते करते डरती है
तैनात है यहाँ ज्वार भाट
हवा भी यहां
सोचती हुई आती है
डरूँ या प्यार करूँ
ऊपर से भले ही कितनी ही
निर्भय और दिखे आधुनिक
डराता है समुद्र सबको
लुभाता है समुद्र सबको।

संपर्क: मो. 09826379049

रामदरश मिश्र

“दो नदियों के बीच फैले कछार में मेरा गाँव बसा है। दक्षिण और पश्चिम दिशा को जाऊँ तो राप्ती नदी और उत्तर तथा पूर्व की ओर जाऊँ तो गोर्रा नदी पार करनी पड़ती थी। प्रायः हर वर्ष दोनों नदियाँ बाढ़ ले आती थीं और खरीफ की फसल नष्ट हो जाती थी। लेकिन रबी की फसल के लिए नई मिट्टी और आर्द्रता छोड़ जाती थीं। सिंचाई के लिए वे ताल-तलैयाँ को पानी से भर जाती थीं। लगातार बाहर जाने और वापस आने के क्रम में इन दोनों नदियों से बहुत प्यार हो गया था। विविध मौसमों में इनमें जो विविध छवियाँ उभरती थीं, वे मेरे अनुभवों में व्याप्त हो गई थी। गाँव छूटा तो ये नदियाँ भी छूट गईं, लेकिन वे मेरे अन्तर्मन में जीवित रहीं। उस दिन दिल्ली में पुल से यमुना नदी पार कर रहा था तो उसके किनारे की प्राकृतिक चहल-पहल देखकर अपनी नदियाँ याद आ गईं और वे अपने पूरे रूप में मुझमें व्याप्त हो गईं। घर लौटा तो वे मेरे साथ लग रहीं और मेरे कवि को जगा दिया। धीरे-धीरे कविता में उनका रूप उभरता गया और ‘नदी’ कविता सृजित हो गयी।”

आज महानगर में हूँ
छूट गयी है नदी मुझसे
कभी कभार शाहदरा की ओर जाते समय
पुल पर से देख लेता हूँ यमुना को
कब से मन होता है कि
कभी पैदल जाकर
इसके किनारे की रेत के विस्तार में अपने को छोड़ दूँ
खेतों के बीच बनी पगडंडियों से होकर
उसके तट तक जाऊँ
पानी को छुऊँ
वहाँ बैठकर धारा से गुजरती नावें देखूँ
और सोचूँ- कहाँ से आ रही हैं नावें
कहाँ जा रही हैं नावें
लहरों में उछलती मछलियों के साथ
अपने को अनुभव करूँ
धारा में झरती पंछियों की परछाइयाँ देखूँ
लेकिन इसी बीच यात्रा धँस जाती है शहर की भीड़ में
अब मैं नदी के साथ नहीं हो पाता
लेकिन लगता है कि
वह मेरे साथ बहती रही है अदृश्य भाव से

पहले वह बाहर थी, अब भीतर हो गयी है
जब जब आषाढ़ आता है
और झमझम संगीत के साथ
आर्द्र आकाश जमीन पर उतरने लगता है
तब-तब यह अदृश्य नदी उमड़ पड़ती है मेरे भीतर
वह मुझे अपने साथ लिये चली जाती है मेरे गाँव
उसके तट पर खड़ा होकर मैं देखने लगता हूँ
धीरे-धीरे उफनते उसके वेग को
कहाँ-कहाँ से उमड़ते चले आ रहे मटमैले जलावर्तों को
याद है-
जब झरने लगता था जल
ऊपर उमड़ते-घुमड़ते बादलों से
तब नदी जलतरंग बन जाती थी
फैल जाता था एक रहस्यलोक-सा
नदी और बादलों के बीच
मैं भीगता हुआ
देर तक खोया रहता था इस रहस्यलोक में
लेकिन धीरे-धीरे लगने लगता था
कि आसपास के खेतों में
फसलें डरी-डरी-सी काँप रही हैं

और उनका डर गाँव की आँखों में फैलता जा रहा है
 फिर गाँव के गाँव उसकी लपेट में पड़े थरथराते थे
 एक सहमा हुआ वर्तमान
 एक भूखा भविष्य
 गली-गली चक्कर काटने लगता था
 भादों के बादलों में डूबे
 दिन और रात के कानों में एक भारी शोर बजबजाता था
 एक मृत्युगंध कस जाती थी घ्राण में
 बंदी यात्राओं के बीच
 कभी कोई नाव दिखाई पड़ती थी यहाँ-वहाँ
 कछार की प्रबल जीवनेच्छा की तरह
 धीरे-धीरे भादों का गहन अंधकार फटने लगता था
 नदी अपने को समेटने लगती थी
 उसका मटमैला जलप्रवाह
 खेतों में फसलों की लाश और नई मिट्टी छोड़कर
 उसके पेट में समाने लगता था
 सामने नये ताजा चित्र की तरह
 उभरने लगते थे क्वार के काँस-फूले दिन
 आकाश हँसने लगता था
 बादलों के आतंक से मुक्त होकर
 नदी का भीषण अट्टाहास
 कल-कल संगीत में बदलने लगता था
 गँदला जल-प्रवाह स्वच्छ हँसी की तरह निखर उठता था
 बच्चों की आँखों की तरह जगमगाने लगते थे
 नयी फसल के अंकुर
 और नावें
 उल्लास भरी नई यात्राओं को पार उतारने लगती थीं
 मेले-हटियों की अनुगूँज से भरी आँखों की परछाइयाँ
 जल-दर्पण में तैरने लगती थीं
 मैं आकर बैठ जाता था नदी के किनारे
 और नई छुवन से भरे इसके जल में
 अपने को फेंक देता था कुछ समय के लिए
 देखता रहता था तट के आकाश में
 उड़ते हुए झुंड के झुंड बगलों को
 और तट की आर्द्र बालुका पर

उनके पैरों के नन्हें-नन्हें निशान
 धीरे-धीरे समय में सिहरन भरती चली जाती थी
 और नदी का पानी
 अपने में सिकुड़ता गहरा हरा होता चला जाता था
 उसकी छुवन में एक थरथराहट रेंगने लगती थी
 चारों ओर उमड़ी हुई फसलों के बीच
 दुबकी हुई नदी डरी-डरी-सी लगती थी
 मानो फसलें बदला ले रही हों
 फसलों के उल्लास के बीच
 अभाव की उदासी से कसी हुई गाँव की आँखों में
 रह-रहकर भविष्य की एक चमक भर जाती थी
 और धीरे-धीरे वह चमक गाढ़ी होती चली जाती थी
 फूलों की उड़ती हुई इन्द्रधनुषी आभा
 अनाज के दानों के भार से नीचे झुकने लगती थी
 और चारों ओर गूँजने लगती थी वसंत की आहट
 फिर नदी का सोया हुआ जल जाग जाता था
 और उसके साथ मेरा होना फिर सघन होने लगता था
 उसकी छुवन में भर जाती थी एक प्यास
 और वह छेड़ने पर खिलखिलाने लगती थी
 फसलों को बजाती, नाचती-गाती अल्हड़ हवा
 इधर-उधर भागती फिरती थी
 और सारी गूँज लाकर डाल देती थी नदी में
 और फिस उसे छेड़ती-छाड़ती भाग जाती थी
 पानी में झरने लगती थीं तरह-तरह की परछाइयाँ-
 फूलों, फसलों की स्वप्नलोक-सी परछाइयाँ
 आकाश में उड़ते अनंत पंछियों की परछाइयाँ
 नावों से जाते हुए
 रंग खेले फटे-पुराने वस्त्रों की परछाइयाँ
 गरीब कंठों से फूटते भरे-पूरे गीतों की परछाइयाँ
 वसंत और नदी
 नदी और वसंत दोनों एक हो जाते थे
 मन होता था घंटों बैठा रहूँ नदी किनारे
 और देखता रहूँ जीवन की बाहरी-भीतरी यात्राएँ
 और सबको समेटकर स्वयं नदी बन जाऊँ
 एक दिन नदी को विदा कहकर

सरगम के सुर साधे

वसंत जाने लगता था
और किनारे के पेड़ पर से
एक पंछी का दर्द-भरा राग फूट पड़ता था
नदी क्षीण होने लगती थी
फसलें कट जाती थीं
और नदी के दोनों ओर फैल जाता था एक सपाट सूनापन
लेकिन घरों में भरने लगती थी एक जीवन-गूँज
आसपास से जाती हुई पगध्वनियों में
रोटी का राग सुनाई पड़ने लगता था
और फिर धीरे-धीरे आसमान जलने लगता था
तपने लगती थी धरती
सरपट भागती हुई हवाएँ आग बन जाती थीं
चारों ओर से, प्यासे कंठों में एक पुकार गूँजने लगती थी-
नदी-नदी-नदी
रास्ते भागते हुए आते थे और नदी में समा जाते थे

पशु-पक्षी इधर-उधर से हाँफते-डाँफते आते थे
और अपने को नदी में डालकर आश्वस्ति की साँस लेते थे
तब नदी कितनी कृतकृत्यता अनुभव करती थी
लेकिन उसे दुःख भी होता था
कि उसका जल तब इतना कम क्यों हो जाता है
जब उसकी सबसे अधिक पुकार होती है
वह इस डर से काँप जाती थी कि
उसका रहा-सहा जल भी सूख न जाये
और सोये-सोये सपना देखने लगती थी
आषाढ़ का-
उस आषाढ़ का जो उसे जल से भर तो दे
लेकिन खेतों की बरबादी की ओर न टेले
हाँ, आज मैं नदी के साथ नहीं हूँ
लेकिन वह मेरे साथ है-भीतर, गहरे भीतर
मुझे भिगोती हुई।

संपर्क :

आर 38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली- 110059

मो. 9211387210

आगत प्रजन्म

सिद्धेश

इस इलाके में आए हुए सात-आठ साल हो रहे हैं। तब से पड़ोस के सामने वाले मकान में रहते हुए उस लड़के को देखता आ रहा हूँ। तब वह चार-पाँच की उम्र का रहा होगा। अब बारह-तेरह साल का हो गया है। काफी लम्बा हो गया। थोड़ा ऐब नार्मल है। स्कूल से लौटने के बाद अपने दरवाजे के आसपास ही चहल-कदमी करता है या फिर सामने वाले पार्क में आकर झूला झूलता है। उसका कोई दोस्त नहीं। वह अनमना-सा अपने आप में बड़बड़ाता है। घर में बाप नहीं रहता। केवल माँ दिखती है। वह भी घर से सज-धजकर सुबह आठ-नौ बजे तक निकल जाती है। वह पड़ोस में किसी से बात नहीं करती। जब रात को आठ बजे रिक्शा से लौटती है तो किसी तरफ भी नहीं ताकती। पैसे चुकाकर सपाट गेट खोलकर घर में घुस जाती है।

यह रोज का किस्सा है। इसके साथी पड़ोस के सारे लोग हैं। मैं भी। इस लड़के का बाप कौन है। कहां है, किसी को नहीं पता। मकान मालिक को शायद पता हो। कोई कहता है कि बाप कहीं बाहर नौकरी करता होगा, लेकिन सच क्या है, किसी को पता नहीं। इन सात-आठ सालों में किसी पुरुष को आते-जाते नहीं देखा। मुझे लगता है कि यह औरत डाईवोर्सी है या पति को छोड़कर अकेली रह रही है। जो भी हो, लेकिन लड़का बड़ा हो रहा है!

ऐसा क्यों होता है? मुझे पता है, क्योंकि मैं भुक्तभोगी हूँ। मेरा लड़का भी मुझको छोड़कर बड़ा हो रहा है। वह अब पन्द्रह साल का हो गया। उस पर क्या बीतती होगी, मुझे नहीं पता! कल उसके स्कूल का प्राइज डिस्ट्रीब्यूशन था। वह क्लास में अव्वल आया था। मैं प्रत्येक बार ऐसे मौके पर उसके साथ जाता था। इस बार नहीं गया। पता नहीं क्यों मुझे ऐसा लगा कि नहीं जाना चाहिए। मैं दिन भर परेशान रहा। उसकी माँ अब मुझे पसन्द नहीं करती। पहले मैं लड़के को देखने जाता था तो कम से कम खाना नसीब होता था, वह भी ठंडा, मैं खुद फ्रीज से निकालकर गरम करता, उस पर भी ताना सुनने को मिलता था कि ठंडा ही खाओ। नाहक गैस

का खर्चा बढ़ जाता है।

मैं कहता, 'प्रत्येक महीने पांच सौ अपने खाने के लिए तो देता हूँ। कितना खाता हूँ? महीने में चार-पांच बार। लड़के का सारा खर्च मैं देता हूँ। अब और कितना चाहिए?

'कितना देते हो? तीन हजार लड़के के लिए। पांच सौ अपने लिए और क्या? इतने में नहीं होता।'

तुम खुद ही कमाती हो। मकान तुम्हारे नाम से है।'

'हाँ। यहाँ रहना है, खाना है तो तीन हजार और लगेगे।'

इसके बाद और क्या बचा है कहने को। मैंने वहाँ खाना-पीना छोड़ दिया है। धीरे-धीरे जाना भी। लेकिन मन नहीं मानता तो शाम को जाकर लड़के को देख आता हूँ। बेटा मुझे चाहता है, लेकिन वह भी क्या करे? छोटा है। माँ से मुँह लग नहीं सकता। माँ तो दस बजे ऑफिस काम पर निकल जाती है। दोपहर को स्कूल से लौटने के बाद अकेला हो जाता है। गनीमत है कि नाना-नानी का घर नजदीक है। माँ के लौटने तक वह वहीं समय गुजारता है। लड़का बड़ा हो रहा है, पर अभी छोटा है, सब कुछ समझ नहीं पाता है। माँ और बाबा क्यों अलग हैं?

मैं उसे कैसे समझाऊँ कि माँ मुझे अभी भी निखटू समझती है। मैंने और बिमला ने एक दूसरे को चाहकर ही विवाह किया था। यह सही है कि मैं बेकार था। मेरी आमदनी कम थी कि मैं कहीं परमानेंट काम नहीं करता था। मैं संगीत की दुनिया से जुड़ा था। अब अच्छा-खासा कमाने लगा हूँ, लेकिन अब भी बिमला की नजर में बेकार हूँ। पहले दो-चार साल मजे में कटे। पिताजी का बड़ा मकान था। एक साथ रहते हुए कुछ न कुछ खटपट लगी ही रहती थी। हर झमेले में मैंने माता-पिता का साथ न देकर उसका साथ दिया था। नौबत यहाँ तक आ गयी कि एक दिन उसी मकान में रहते हुए हम सब अलग-अलग हो गये।

बिमला की नौकरी अच्छी थी। उसने एकदम से अलग रहने का फैसला कर लिया और ऑफिस से लोन लेकर अलग फ्लैट ले लेने के बाद हमेशा के लिए माता-पिता से अलग हो गये। बिमला अपनी मर्जी की मालिक बन गयी और वहीं से मुझ पर से उसका अलगाव शुरू हो गया। उसने जोर जबरदस्ती मुझसे नौकरों की तरह काम कराने

की कोशिश की। नकारने पर बुरा-भला कहा, 'दिन-रात घर पर पड़े रहते हो, कोई काम-धाम नहीं। जो कहती हूँ, वैसा ही करो, नहीं तो घर से निकल जाओ।'

पिताजी इस बीच बीमार पड़े, आपरेशन हुआ। ठीक होकर आये तब पुराना मकान बेच देना पड़ा। नया छोटा सा फ्लैट लेकर माता-पिताजी शहर आ गये। एक दिन किसी एक बात पर तकरार हुआ तो मैंने झुंझलाकर अपने हाथ में पड़े अखबार उसकी तरफ फेंका तो अपना चप्पल खोलकर मुझे मारने दौड़ी। दिन-रात के तकरार से तंग आकर मैंने सोचा कि लड़के के ऊपर क्या बीत रही होगी। वह चुप रहता, लेकिन भीतर से परेशान था। उसकी भलाई के लिए मैं बिमला का घर छोड़कर माता-पिता के पास आ गया।

लड़का बड़ा हो रहा है यह सोचकर ही फैसला लिया था। लड़के के सामने पति-पत्नी का यह व्यवहार कितना घातक हो सकता है, इसे सोचा जा सकता है। इससे बेहतर है कि उसके भविष्य को विषाक्त होने से बचाया जाये। इसीलिए सब छोड़कर अकेला रहने के लिए माता-पिता के पास आ गया।

सप्ताह में एक-दो दिन जाता हूँ दो-तीन घंटों के लिए। वहाँ खाता-पीता नहीं, बल्कि बेटे के साथ मिलकर हंस-बोल आता हूँ। बेटे ने चाहा था कि छुट्टी में एक साथ बाहर टूर पर जाकर जी हल्का कर आऊँ। मगर मैंने मना कर दिया क्योंकि गोवा की एक शाम अपने बेटे के सामने ही किसी बात पर बिमला इतना झल्लाई थी कि आस पास भीड़ जुट गयी थी। बेटा हतप्रभ था। वह दृश्य अब भी नहीं भूल पाता हूँ।

लड़का बड़ा हो रहा है, फिर भी माँ के सामने सहमा-सहमा रहता है। सोचता हूँ उसे किसी हॉस्टल में रख आऊँ। लेकिन मेरे इतने पैसे नहीं होते कि उसका खर्चा चला सकूँ। बिमला उसके लिए एक पैसा भी खर्च करने को तैयार नहीं। लड़का अपने पैरों पर खड़ा होकर क्या करेगा, यह वही जाने। लेकिन बहुत अभी देर है।

सामने मकान में रहने वाला लड़का तो शायद अपने बाप को जानता ही नहीं। शाम को दरवाजे के आसपास सड़क के किनारे दौड़ता, उछलता-कूदता रहता है। कहीं

किसी गाड़ी के नीचे न आ जाये। पार्क में झूले पर अकेला ही पेंग मारता है। एक बार पार्क में ही मुझे अकेला बैठा देखकर निकट आकर मेरे गले से झूल गया।

‘आप मुझे पहचानते हैं?’

मैं अवाक्। बोला, ‘हाँ, क्यों नहीं?’

बोलिए तो, ‘मैं कौन हूँ?’

सोचकर बोला, ‘तुम्हीं तो भविष्य के अग्रदूत हो, जिसे कोई पीड़ा, दुस्समय छू नहीं सकता।’

मुझे लगा कि मैं अपने बेटे से बात कर रहा हूँ।

‘समझा नहीं, आप क्या कह रहे हैं।’ उसने हथियार डाल दिये और मेरी ओर अनबूझ सा ताकता रहा।

मैंने कहा, ‘अभी नहीं समझोगे। थोड़ा और बड़े हो लो। छोटे हो।’

वह चुप लगा गया। पार्क में अंधेरा हो चला था, लैम्प पोस्ट की बत्ती नहीं जली थी। वह चुपचाप खड़ा रहा।

‘बैठो मेरे पास।’ मैंने कहा। वह मुझसे सटकर बैठ गया। दूसरे खेलते बच्चों की तरफ ताकता रहा।

‘तुम मुझसे दोस्ती करोगे?’ मैंने हठात उसकी तरफ देखते हुए कहा। अंधेरे में उसका चेहरा धुंधला नजर आ रहा था। मगर आँखें मेरी तरफ लगी थी। खेलते हुए बच्चे थम गये थे। शायद खेल खत्म हो चुका था। उसने झुककर कहा, ‘हाँ। मैं आपको अंकल कहूँगा। आप मुझे क्या कहेंगे?’

‘दोस्त।’

‘मेरा नाम राजकुमार है। राजू कह सकते हैं।’

पार्क की बत्ती जल गयी थी। वह साफ नजर आ रहा था। उसकी आँखें चमक रही थीं। वह निश्चित मुझसे सटकर बैठा था

‘अच्छा राजू, यह बताओ कि तुम किस क्लास में पढ़ते हो?’

‘सातवीं में। माँ कहती है, मुझे आठवें पढ़ना चाहिए थी।’

‘क्यों?’

‘क्योंकि मेरा दिमाग काम नहीं करता, मैं आठवें क्लास के लायक नहीं हूँ।’ इसलिये। फिर वह चुप लगा गया। थोड़ी देर बाद मैंने कहा, ‘अब उठो। माँ आ जायेगी और तुम्हें घर पर न देखकर परेशान हो जाएगी।’

उसने कोई जवाब नहीं दिया और चुपचाप बैठा रहा।

पार्क धीरे-धीरे खाली हो रहा था। हवा मंद गति से चल रही थी। ऐसे वक्त अपने बेटे की याद आ गयी। वह भी किसी ट्यूशन में पढ़ने गया होगा या स्वीमिंग पुल पर होगा। बिमला तो सात-आठ तक लौटती है। पहले वह माँ-बाप के घर जाकर बेटे को साथ लेकर अपने फ्लैट में लौटती है। पहले जब मैं वहाँ था, तब यह दायित्व मेरा था कि ट्यूशन से या स्वीमिंग के बाद बेटे को साथ लेकर घर लौटूँ। तब वह छोटा था। अब लड़का बड़ा हो रहा है। कुछ दिनों के बाद उसके आने-जाने में किसी के साथ की जरूरत नहीं पड़ेगी। तब मैं भी निश्चित हो जाऊँगा। अभी तो चिंता लगी रहती है।

साथ-साथ चल रहे हाथ पकड़े राजू घर लौट रहा था। मैंने पूछा, ‘कल आओगे?’

‘हाँ, अच्छा चलता हूँ। घर आ गया। बाँया।’

‘ठीक है। कल मिलते हैं।’ मैंने उसका हाथ छोड़ दिया।

आज पांचवा दिन था जब मैं उससे मिला था। इस बीच मैं अपने बेटे से मिल आया था। बेटे को मुझसे इस बात की शिकायत थी कि मैं उसके स्कूल प्राइज डिस्ट्रीब्यूशन के दिन क्यों नहीं गया। मैं उसको क्या कहता, कैसे समझाऊँ कि उसकी माँ बिमला नहीं चाहती कि मैं वहाँ रहकर रात बिताऊँ। क्योंकि मेरे खाने-पीने पर उसको दिक्कत है। मैं उतने पैसे नहीं दे पाऊँगा। और न जी हुजूरी कर सकूँगा।

मुझे चुप देखकर बेटे ने टोका, ‘क्या बात है, आये क्यों नहीं?’ मैंने टालने के लहजे में कहा, ‘देर हो जाती। मैं रात में लौट नहीं पाता।’

‘तो क्या, यहीं रुक जाते।’

‘नहीं बेटे, माँ तुम्हारी नहीं चाहती है, इसीलिए।’

वह चुप लगा गया था, लेकिन अविश्वास की झलक उसके चेहरे पर उभर आयी थी। वह चेहरा बार-बार मेरे जेहन में उभरकर सामने आ जाता है।

XXXXX

अभी मैं पार्क में राजकुमार के पास बैठा हूँ। दूसरे बच्चे फुटबॉल खेल रहे हैं। उसको खेल में इसलिए शामिल नहीं किया गया है कि अभी वह छोटा है। चोट लग जाएगी तो कौन दायित्व लेगा। सभी जानते हैं कि उसका

कहानी

कोई अभिभावक नहीं हैं। माँ है, वह ऑफिस से देर से लौटती है। वह चुपचाप बैठा दूसरे बच्चों को खेलते हुए देखता रहता है। उसको किसी से कोई शिकायत नहीं है।

मैं पूछता हूँ, 'राजू, तुम्हारी माँ कहाँ काम करती है?'
'पता नहीं।'

लेकिन मुझे पड़ोस के एक व्यक्ति से पता चला है कि वह किसी 'ब्यूटी पार्लर' में काम करती है, इसीलिए इतना सज-धज कर जाती है।

'तुम्हारे बाबूजी कहाँ रहते हैं?'

'पता नहीं।'

'कहाँ काम करते हैं?'

'माँ कहती है कि वे बोर्डर पर हैं। आर्मी में हैं।'

'तुमने कभी उन्हें देखा है?'

'नहीं।' चुप लगा गया वह।

'कभी नहीं?'

सोचकर बोला, 'एक बार आये थे। माँ से खूब लड़-झगड़ कर चले गये। उस समय मैं बहुत छोटा था। फिर

कभी नहीं आये।'

'फोन पर बात करते हैं? या कोई खत वगैरह।'

'नहीं।'

'कभी बाबूजी की याद आती है?'

'नहीं।'

'कभी मिलने की इच्छा होती है?'

'हाँ।'

'माँ से कभी कहा है?'

वह चुप लगा गया था। कुछ याद कर बोला, 'माँ कहती है कि उन्हें तुम्हारी परवाह नहीं है, तो तुम्हें क्या जरूरत है याद करने की?'

मैं सोच रहा था कि हमारा आगत प्रजन्म कहाँ जाकर रुकेगा? संयुक्त परिवार तो टूट ही रहा है, अब माता-पिता की इकलौती संतान भी अकेलेपन की टूटन से बचकर कहाँ जाएगी? ये चलते-फिरते मानव होकर भी 'रोबट की जिंदगी' जियेंगे!

मैं सिर झुकाकर राजकुमार को रोते हुए देखा।

संपर्क :

1/17, आदर्श पल्ली, पो.- रिजेन्ट एस्टेट
कोलकाता- 700092, मो. 09830859660

अकेले चने का भाड़

डॉ. जसबीर चावला

चना कहे में फोड़ूंगा। माँ-बाप समझे बच्चा कहीं लिखा हुआ कुछ पढ़ रहा है। चना कई बार कहने लगा- “मैं फोड़ूंगा...मैं फोड़ूंगा।” बड़ों ने समझा वह बच्चों के साथ कुछ फोड़-फोड़ूवा जैसा कुछ खेल रहा होगा। चने की आवाज ऊँची होती जा रही थी- “मैं फोड़ डालूँगा। फोड़ डालूँगा!!” आस-पास के चनों ने कान खड़े कर लिये- “क्या फोड़ डालेगा।”

“दुनियाँ में नहीं रहने दूँगा... मैं प्रतिज्ञा करता हूँ- भाड़ फोड़ डालूँगा।”

लोगों ने पहली दफा उसके तेवर देखे... गर्जना सुनी। अच्छा लगा थोड़ी देर।

फिर वे अपने कामों में रुझ गये। चने ने दूसरे चौक पर जा ऊँची जगह खड़े हो वही ललकार दुहराई कुछ लोग ठिठक गये। जारी रही चने की ओजस्वी घोषणा। कुछ और लोग जुटने लगे। उसने प्रतिज्ञा को ठोस मैनीफेस्टो की तरह पढ़ा- “इस दुनिया से भाड़ का सफाया करूँगा। मैं भाड़ फोड़ डालूँगा!!”

लोगों ने उसकी जवानी को देखा, जवानी के जोश को देखा और धीरे-धीरे खिसकने लगे। चना उनके व्यवहार पर कुम्हलाया नहीं। वह गोदाम में चने की बोरियों के पास गया- “मैं भाड़ को साबुत नहीं छोड़ूँगा। फोड़ डालूँगा!!”

बोरी के चने सूखे थे... पुराने थे। उसकी ललकारती छाती ठोंकी- “अकेले फोड़ लोगे?”

“हाँ, अकेले!”

वे उसके साहस पर मुँह में ऊँगलियाँ दबाकर चुप हो गये। चना नये खेतों में गया। नये चने खुशियों में हरे-हरे झूम रहे थे। वे उसे पहले मुग्ध हो देखते रहे। चने ने वही गर्जना की। वे उसे आदर की निगाहों से देखने लगे। चने ने घोषणाएँ की। उसकी बातें और चुनौतियाँ उनके सिरों के ऊपर से निकल गईं- “कौन भाड़? क्या भाड़?”

“कैसा होता ऽ ऐ भाड़?” एक ने अंग्रेजी तान दी।

“हमको कुछ नई माऽलूम?” दूसरे ने गब्बरिया धुन निकाली। बाकी पीछे खिलखिलाने लगे।

“खई के भाड़ बनारसवाला....” तीजा अमितभिया गया तो चौथे ने ठुमके लगाने शुरु किये और ठहाके पर ठहाके लगे। कई अल्हड़ जवान भाड़ की तुकबंदी मिला हँसने लगे। चना बिल्कुल बौखलाया नहीं। उसे तरस आया— “तभी मवेशी चर जाते हैं, पहले अक्ल फिर चर जाते हैं इन्हें! ये गोदामों तक भी नहीं पहुँच पाते!”

उसके जाने के बाद भी वे खिलखिलाते रहे और उसकी मिमीक्री करते रहे! सिर्फ नई चनियाँ गंभीर बनी रहीं। कई उससे प्रभावित थीं, कई उस पर मुग्ध, कई फिदा! जिनमें दाने नहीं भरे थे, वे उदास बने रहे।

चना घर आया। उसने वही संकल्प माँ के सामने दुहरा दिया। माँ ने उसके कपाल पर हाथ फेरा— गर्म था। प्यार से उसका माथा चूमा— “बेटा, तू अकेला है! अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता!”

“क्यों नहीं फोड़ सकता? भाड़ कितना है? वह अकेला नहीं है?”

माँ उसके तर्कों पर चुप हो गयी। वह उसका सिर सहलाने लगी— “तुझे ताप है! दवाई लेकर आराम कर ले!”

“कोई ताप नहीं... संताप है बस! मेरा बाप कहाँ है? मैं उससे पूछता हूँ चलकर— ‘क्यों नहीं फोड़ सकता भाड़, अकेला चना? क्या वह भी इसी कहावत के डर से मर गया?’ गुस्साया चना पैर बजाता घर से निकल पड़ा। उसने एक ना सुनी, माँ पीछे से पुकारती रही। वह शक्ल बिसूरती रह गई। ओसारे में बैठा था बाप एकटकी लगाये। वह झूम रहे पेड़ को देख रहा था— “कितना पुराना आलीशान वृक्ष है। इसने हमारे सारे पुरखों को छाँव में खेलाया है, उन्हें प्राण-वायु दी है। तंदरुस्ती दी है। कितना दयालु है रचनाकार!” सिर झुकाकर नमाज जैसा सजदा किया उसने और मिट्टी चूम ली।

चने ने बाप को इस कदर भक्ति-विह्वल पाया तो तड़प उठा। उसका पारा और चढ़ गया— “इसी गफलत ने चनों की असीम अंकुराती शक्ति पर पानी फेर दिया है! सारा गुड़ गोबर कर दिया है।”

वह बिफर उठा— “हे पिता! आप परम पिता के चक्कर में पड़कर ही इतने दीन-निर्बल-निसहाय बने हैं।

सारी जिंदगी जप-माला में निकाल दी... एक भाड़ तक नहीं फोड़ पाये?”

पिता जैसे समाधि से उठा हो, निर्वाक उसे देखने लगा— “अहा! मेरा पुत्र... कितनी ओजस्वी वाणी में बात करता है।” उसने अपने पास बैठने का इशारा किया। पुत्र थोड़ी देर उसकी खलड़ी पर उभरती भावनाओं को पढ़ता रहा— लगा आज कोई पुरातन रहस्य फूटने वाला है। अपनी सारी प्रश्नाकुलताओं को दबा समीप चला गया। बाप ने खींचकर धरती पर ही बैठा लिया— “फोड़ा था! ऐसा भगवान के वास्ते न समझो कि मैं कायर था... टकरा गया था भरी जवानी में... भाड़ से! वह दुनिया का सबसे कठोर भाड़ निकला। जितना मजबूत, उतना ही गर्म! उसने गले पड़ते ही उछाल कर बाहर फेंका। इससे पहले कि दुबारा हमला बोलता उसने भड़भूँजे को आगे कर दिया। भरपूर शक्ति का लपलपाता वार आँख पर जा बजा। उस गरीब की आँख फूट गई। मुझे बाद में पता चला कि यह एक मेहनत करने वाला शरीफ आदमी है जो भाड़ ने कब्जे में कर रखा है। एक निरपराध जीव को उसकी एक आँख से निकम्मा करने का पाप जो मैंने किया है... यह उसका ही पश्चाताप है जो आज तक कर रहा हूँ। शक्ति क्षीण हुई है... सच है... पर विश्वास नहीं...। यह एक सोची-समझी साजिश रची गई है तो तुम सुनते हो— “अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता।” उसी ने फैला रखा है ताकि आगे से कोई चना हिम्मत ही न करे। पर मैं जानता हूँ बेटे! अगर अकेला चना भड़भूँजे की आँख फोड़ सकता है तो भाड़-भी फोड़ सकता है।” बाप हाँफने लगा था। वह एक सांस में पूरे तैश में आ गया था। थोड़ी देर चुप लगा लिया। चना पाल्थी मार कर बैठ गया था। उसने देखा, साफ अपनी आँखों से, कैसे बूढ़े में भाड़ के नाम से ही क्रोध की ज्वाला उठी थी... कैसे उसमें जवानी लौट आयी थी। उसकी कल्पना में वह दृश्य उभर आया— सारे बूढ़े मिलकर जवानी का परचम लहरा रहे हैं। चने ने बाप का हाथ टटोला— “अब कौन है भड़भूँजा? क्या वह अब भी काना है?”

पिता ने गौर से देखा— “बेटे में उत्सुकता जाग गई है... पर वह पूरा विश्वास नहीं कर पा रहा!”

“नहींअब वह नहीं रहा रे!” पिता जैसे बड़ा

व्यथित हो इस बात से- अब तो अपना रमदेऊआ ही है! दोनों आँखें सलामत हैं... कोई चना अब उसकी आँख को आँख उठाकर भी नहीं देखता... वह खुद भी भाड़ नहीं भूँजता। सास ही बैठा ली है अपनी... वही मुँह-टेढ़ी मौसी... सड़क पार करते ही देखते नहीं, कोने में बैठी रहती है भूँजती!”

“तो उसकी आँख कोई नहीं फोड़ता?” चने ने बाल-सहज प्रश्न किया तो बाप की हँसी निकल गई- “अभी बहुत कुछ समझना होगा तुमको! खाली जोश से काम नहीं चलेगा! पूरे भाड़-तंत्र को समझना होगा। कभी देखा है तुमने करीब से भाड़ को? “नहीं? तो फिर फोड़ोगे कैसे? तुम्हारे जैसे बोरी के बोरी नौजवान चने उस तंत्र में भूँज दिये जाते हैं? पहले सिस्टम पर ध्यान दो! भाड़ तो कुछ करता ही नहीं!”

चना बाप के और करीब खिसक आया- “दुस्साहसी ही नहीं, ज्ञानी भी है मेरा बाप!” वह गौर से सुनने लगा। बाप रुक-रुक कर बोलता जा रहा था- ‘रेत है! रेत से मिलो... पूछो... आग है ... सूखी लकड़ियाँ हैं! एक झाड़ू भी है भँड़भूजे के हाथ... छाननी है, फिर छान देती है रेत को! चनों का नया दल आता है। रेत फिर जलाने लगती है... चनों का कोई बस नहीं चलता। बेबस रेत भी तपती है... भाड़ गर्म होता रहता है! भूँजना चलता रहता है... चलता रहता है! मनो-टनों चने मिलकर भी भाड़ का कुछ बिगाड़ नहीं पाते। भाड़ की अपनी क्या बिसात है पूरी प्रणाली में? एक पूरा समाज है.... विज्ञान है ... इसे विज्ञान ही काट सकता है... तुम पूरा विज्ञान जानो!” ...कहते-कहते बाप रुक गया। एक सन्नाटा छा गया आगे। चना प्रतीक्षा कर रहा था कि बाप अभी और बोलेगा... सोचने के बाद...। बहुत देर तक मौन पसरा रहा उनके बीच। चने ने आखिरकार झिंझोरी बाप की देह। वह मिट्टी हो चुकी थी। मिट्टी कुछ नहीं बोलती... पर उसके अंतिम वाक्य अभी भी चने के कानों में स्पंदित हो रहे थे- “विज्ञान है... विज्ञान ही काट सकता है।”

चना उदास नहीं हुआ... बिल्कुल नहीं। उसने मिट्टी को चूमा, सलाम किया मानो वह एक शहीद की मिट्टी हो और अगले कार्यक्रम की योजना में निकल पड़ा। विज्ञान...

वैज्ञानिक की खोज में कई विश्वविद्यालयों में भटकता रहा। चोरी-चोरी रातों को रेत के पास जाने लगा, जब भाड़ पूरी तरह बेहोश होता। उसने देखा रात तो ठंडी है। उसकी अपनी कोई झुलसाती गर्मी नहीं। वह तो लगाई आग में तपती है और अंदर ही अंदर भाड़ से भरपूर घृणा करती है जो उसे नौजवान हँसमुख खिलखिलाते चनों को भूँजने के लिए मजबूर कर देता है। क्यों है वह रेत? उसे खुद नहीं मालूम। रेत ने ही उसे भीतरी बात बताई कि भाड़ की देह को अपने नाखूनों से वह छीलती रहती है कि कभी तो परत-दर-परत घिसड़ता भाड़ इतना पतला हो जायेगा कि दरक जायेगा। रेत उसके पक्ष में ही बात करती जा रही थी। चना सोचने पर विवश हो गया- “हे पिता, यह कैसी विडम्बना है? हमारे खिलाफ काम करने वाले भी हमारी तरफदारी की बातें करते हैं। कैसे सलटायेंगा विज्ञान ऐसी पहेलियाँ? अंततः, मिला उसे एक बंदा जो वैज्ञानिक तो नहीं पर इंजीनियर था जो भाड़ कहाँ से आता है, किस मिट्टी से बनता है, क्या गुण होते हैं, क्या अवगुण होते हैं... कहाँ-कहाँ काम आता है, क्या कीमत होती है.... सब बता सकता था। चने को बड़ा आश्चर्य हुआ कि जिसे वह महाशक्तिशाली... अजेय और अटूट समझ रहा था वह महा भुरभुरा है, कि एक लाठी की चोट उसकी कपालक्रिया कर सकती है। इसकी भी जरूरत नहीं, अगर महातपे भाड़ पर ठंडे पानी का फौवारा पड़े तो उसमें तरेड़ पड़ जायेगी तो जल्दी ही दरार बन जायेगी। जहाँ से भाड़ कभी फूट जाता है। चने को याद आया रेत भी अपने अनुभव के आधार पर यही बता रही थी कि अगर उसके साथ कंकड़ आ मिले तो उस पूरे भाड़-तंत्र को वह अंदर ही अंदर खोखला कर सकती है। तब भाड़ की पतली हुई चमड़ी कभी भी इतने नौजवान चनों का हल्लाबोल बर्दाश्त नहीं कर पायेगी। अभेद्य कहे जाते दुर्ग की दीवारें तब छीज कर धूल में मिल जायेंगी। चने ने एक दिन साहस कर इंजीनियर से पूछ ही लिया- “क्या और कोई ऐसी विधि नहीं जिसमें लाठी-पानी-पत्थर... यह सब बिना लाये भाड़ अपनी मौत मर जाये?

“सिंपल”, इंजीनियर ने कहा- “है क्यों नहीं, यही भाड़ आग में पिघल सकता है... चाहिये प्रचंड आग! आग

सब जलाकर खाक भी करती है पिघला कर पानी भी कर देती है। लोहा सोना ताँबा जैसे पिघलते देखे होंगे, वैसे ही यह पानी।” बात बीच ही छोड़ चना दौड़ गया आग के पास। वह अति उत्साहित था। आज उसे पता लगा विज्ञान के पास काट है।

आग ने उसकी बात पूरे धैर्य से सुनी और लगी ठठाकर हँसने। वह जितना ठठाती चना आग-बबूला होता जाता कि यह कंजरी विज्ञान तो समझती नहीं.... मजाक उड़ाये जाती है! हँसते-हँसते आग ने बताया कि पूरा जंगल स्वाह कर भी उतना तापक्रम पैदा नहीं होगा, जो इंजीनियर ने तुम्हें चरा दिया है। कहाँ तुम लोग फँस जाते हो कोरी कल्पनाओं में? व्यवहारिक ज्ञान लो! चना बड़ा दुःखी हुआ कि अच्छा खासा भाड़-तंत्र गलकर नष्ट हो जाता पर यह तापक्रम का सारा चक्कर...। वह उदास, मनहारा, दिशाहारा बैठा था कि उसने देखा भीड़ की भीड़ एक संत जी के पीछे जुटी है जो सबका कल्याण करते, सबकी समस्याओं का समाधान कर रहे हैं। चने ने इसे अंधेरी सुरंग की किरण मान, पीछा किया और नतमस्तक हो गया- “कई जगत हैं! तुम लोग इसी जगत् को आखिरी सत्य मान बैठे हो। यह माया है! मिथ्या है! नश्वर है! आज तुम चने हो... कल भाड़ होंगे! यहाँ नहीं तो दूसरे जगत् ... इसकी भरपाई

तो करनी पड़ेगी... जैसा बीजा... वैसा काटना पड़ेगा। बोओगे बबूल खोजोगे आम? कहाँ से होगा ऐं? ऐं?” संत जी नाहक गर्म होते जा रहे थे। चना घबरा कर रोने लगा।

“बस ... बस तुम तर गये बच्चा! दिल से किया पश्चात्ताप सारे पाप धो डालता है! किसी भाड़-वाड़ को न सोचो! उसे तोड़ने वाला है! जब पाप का घड़ा भरता है... फूट जाता है, तो फिर भाड़ की क्या औकात?”

चना देर तक पिता को याद करता रहा कि पता नहीं अब तक वह भी भाड़ बना कि नहीं? वह जिसने भाड़ फोड़ने के पराक्रम में आँख फोड़ दी, क्या कभी भाड़ बन पायेगा? फिर भी चने का आत्म-विश्वास टूटता नहीं अगर कुछ वर्षों बाद उसे लामा न मिलते जिन्होंने उसे एक नई दृष्टि दी-

“आखिर तुम भाड़ को फोड़ना क्यों चाहते हो? इसीलिये न कि तुम्हें वह भूँज देता है, समस्या भाड़ नहीं तुम्हारा भुँजना है। रेत, आग, भँड़भूजा, झाड़ू, छलनी, लकड़ी वगैरह-वगैरह चाहे जिसकी मदद भी ले... वह ऐसा करता क्यों है? कभी सोचा है? क्योंकि डिमांड है... माँग है वैसी, समझे? लोग न खायें भूँजा... भिंगा के खायें। तुम आहार हो। जो रूप माँग लेगी वही चना तय करेगी, वही भाड़!

संपर्क :

18/235, टर्फ व्यू

249, ए.जी.सी. बोस रोड, कोलकाता- 700022

जीवन धारा

सेराज खान 'बातिश'

मैं राम परेश महतो, बहुत पढ़ा-लिखा तो नहीं हूँ, पर बड़े शहर में रहने के नाते, थोड़ी-बहुत सूझ-बूझ तो आ ही गई है। मैं स्टील अलाइड कम्पनी में पीयून हूँ। मसीद झाइवर मेरा सहकर्मी है, वह कई दिनों से कोमा में है। उसकी पत्नी, दो छोटे-छोटे पुत्र और एक मात्र सयानी लड़की नाजिया, दिन-रात रो रही हैं। आस-पड़ोस के लोग उनकी स्थिति से कोई विशेष चिंतित नहीं हैं। महानगरीय चरित्र की चादर में सब लिपटे-चिपके अपनी-अपनी दिन-चर्या में लगे हैं। मैं पड़ोसी नहीं हूँ, ना ही उसके गाँव-गिराँव का हूँ फिर भी जितना बन पा रहा है, कर रहा हूँ। कंपनी ने मसीद को अनफिट कर सर्विस से हटा दिया है। यह सच है कि कंपनी ने दवा-दारू का खर्च उठाया है। छोटी कंपनी कितना कुछ करे... साहब ने तो कह दिया- “अब बस- बहुत हो चुका, अब बस से बाहर की बात है।” पर बीमारी है कि जानलेवा है। जानलेवा क्या, मजीद तो दस दिन पहले ही मर चुका है। बस उसकी लाश ठण्डे घर में डालकर, जीवन धारक मशीन पर रख दी गई है, जिसका हर रोज खर्च पन्द्रह-सोलह सौ है।

मजीद की पत्नी, अवध की अंतिम तवायफ़ उमराव जान अदा की नगरी फैजाबाद की रहने वाली है। मुहल्ले में अपनी खूबसूरती के लिए मशहूर मजीद की पत्नी से हर कोई हँसी-ठिठोली करने का मौका नहीं छोड़ना चाहता, मानो वह गरीब की जोरू, सब की भौजाई हो। उसका यह रसीलापन मुझे भी कई बार अपनी ओर खींच चुका है।

... लेकिन आज वह भी मलिन पड़ गई है। उसका चेहरा स्याह पड़ता जा रहा है। वह पति की जिन्दगी से अधिक हर रोज होने वाले खर्च से चिंतित है और वह किसी के निकट-पास होने में कोई दिलचस्पी नहीं ले रही है। ना ही किसी की सहानुभूति की उसे चिंता है। उसे देखकर लगता है कि उसका तन-मन कह रहा हो ‘सुहाग नहीं तो श्रृंगार नहीं’... पर मैं दिन-रात मजीद के घर-परिवार की सेवा में लगा हूँ, इसमें मेरा स्वार्थ नहीं है। बस वर्षों की मित्रता और थोड़ी सी मजीद की पत्नी के प्रति लगाव, जिसे वह शायद समझ नहीं पा रही है, ठीक ही है। हर रोज अस्पताल जाता हूँ, डॉक्टरों से मिलता हूँ, रिपोर्ट लेता हूँ। पाँच-दस मेरा भी खर्च हो ही जाता है। मैंने भी अपनी पत्नी को गाँव में पत्र डाल दिया है कि मजीद मियाँ बहुत बीमार हैं, बचने की आशा नहीं है... कभी-कभी अपने विकारी मन को धिक्कारता भी हूँ, पर मानुष मन है ही ऐसा। मेरी पत्नी बच्चे भी गाँव में रहते हैं। मुझ से दूर अगर कोई निकट भौजाई समझ धपियाने लगे तो... ? नहीं-नहीं, क्या दुःख में साथ नहीं होना चाहिए... ? जात, बिरादर नहीं है तो क्या हुआ, असहाय स्त्री सबके लिए दया की पात्र है।

मेरे सामने मजीद के परिवार का विराना दिख रहा है। सर्विस के पैसे भी कोई खास नहीं हैं। पेंशन भी नहीं है, हमारी कंपनी में। क्या होगा बेचारों का? मजीद का दोबारा खड़ा हो पाना मुश्किल जान पड़ता है। डॉक्टर बताते हैं, कि उसके माथा में लकवा मार गया है। अब उसे कोई दैवी चमत्कार ही बचा सकता है। कैसी-कैसी बीमारियाँ जन्म ले रही हैं। दुनिया की तरक्की के साथ-साथ तरह-तरह की समस्याएँ भी आज पैदा हो गयी हैं। पहले बड़े-बड़े घाव में गाँव के हज्जाम चीड़ कर उसमें नीम की पत्तियाँ भर दिया करते थे, बड़े-बड़े जहरवाद की यही अचूक दवा थी। बस आज यही काम करने के लिए बड़े-बड़े नर्सिंग होम खुल गये हैं। किलो-किलो भी दवाईयाँ खानी पड़ती हैं। बड़े-बड़े सर्जिन हो गये हैं, चीड़-फाड़ करने वाले और उसके साथ कई तरह की औपचारिकताएँ... पैसे की बुकाई... थोड़ा सा इधर-उधर हुआ तो कैसर का शक, फिर घर के बर्तन बिक जाएँ, मगर बेरहम डॉक्टर के मन पर तनिक भी दया भाव नहीं आये। जरा देखिये तो डी.एच. रोड पर एक कतार से पचासों दवा की दुकानें खुल गई हैं। वहाँ मिठाई, किताब, पकौड़ी, चाय-पान की दुकानें हुआ करती थीं। लगता है लोग आज कल खाना कम, दवा ही अधिक खा रहे हैं। कमाई का सबसे ज्यादा गंवाई दवा-दारू में जा रहा है।

मरणासन्न मजीद को देख-देख कर पत्नी भी ऊब चुकी है। दुःख की ग्रंथी से शायद रिस-रिस कर विरह का हर बूँद बह चुका है। पड़ोस में-

‘बन्नों तेरी अखियाँ हैं, सुरमेदानी हो ओ... बन्नों तेरा टीका है हजारी।’

वाला टेप बज रहा है। मजीद की बेटी नाजिया सामने के फेकू पान वाले के लड़के कलुआ से फिर हँस-हँस कर बतियाने लगी है। आज मजीद की पत्नी ने भी कई दिनों के बाद पान खाया है। मगर दुःख भरे चेहरे पर पान से रंगे होंठ, उस प्रकार रसिक नहीं हैं जिस तरह ड्राइवर के होने पर हुआ करते थे...

छी: यह भी मौत है कि घर-परिवार के लोग ऊब जाएँ या जो सुने वह उसकी मौत की दुआएँ माँगे। आज ही मजीद का कोई रिश्तेदार गाँव से खेत बेचकर कुछ पैसे

लाया है। वह भी सट कर मजीद की पत्नी से बतिया रहा है, पर इस प्रकार कब तक चलेगा। मजीद मरने का नाम ही नहीं लेता। मनुष्य के लिए दुनिया का सबसे बड़ा वरदान, “जीवन” इतना भी श्राप बन सकता है, मैं पहली बार देख और महसूस कर रहा हूँ। मजीद अपने जीवन में शुद्ध ब्राह्मण स्वभाव का रहा है। कहने को मुसलमान। न कुआन, न धर्म-कर्म से कुछ लेना-देना। विवादास्पद बाबरी मस्जिद से कुछ ही दूरी के ब्राह्मणों के एक गाँव का रहने वाला मुसलमान मजीद बस यही जानता कि जिन्दगी में शुद्धता, स्वच्छता ही सब कुछ है। छोटी-सी शिव-भूमि हो, या चबुरतरेनुमा संकट मोचन मंदिर या फिर विराट चौपाल सी मस्जिद की साफ सुथरी जगह... मजीद को वहाँ दो घड़ी बैठने में आनंद आता। मजीद अपने इस निराले अंदाज के कारण कभी-कभी सहकर्मियों के बीच उपेक्षित भी होता रहा है। इन्हीं कारणों से पत्नी भी उससे परेशान रहती...

साफ-सुथरा रहना और बच्चों को हर समय सुन्दर और सुघड़ रखना उसकी आदत थी। जब तक घर में रहता खिच-खिच करता रहता- ‘चादर में शिकन पड़ गई है। चप्पल उल्टा पड़ा है, चाकू नीचे गिरा है, कपड़े बिखरे पड़े हैं, ‘यही कुछ होता रहता... कई बार मेरी उपस्थिति में वह झुनक-तुनक जाता और मुझे ही बीच बचाव करना पड़ता...

दिन में पाँच बार करकट के छप्पर वाले कमरे के फर्श को पोछता। कच्छा उस समय तक पहने रहता जब तक स्नान न कर लेता। इस्लाम, कुरआन, रोज़ा, नमाज से नाम भर का रिश्ता था। वह शाकाहार पर विशेष बल देता। कुरमा-कबाब, कोफता, अंतड़ी-पचौनी, दिल कलेजी, सिक कबाब खाने वालों से उसे घिन होती।

लड़की को पाँच साल के उम्र से शलवार और पर्दे में डाल दिया था। मगर फेकुआ का लड़का मजीद की अनुपस्थिति में किसी न किसी बहाने दिन में एक बार जरूर आ जाता। मजीद की पत्नी उससे कई तरह के काम लेती... वह कुछ-कुछ उससे बेलेहाज भी हो गई थी।

मजीद कुछ हद तक नई तालीम और शहरी आबो-हवा व सजाव-बजाव का विरोधी रहा। उसे देखकर ‘बापू’ के भाषणों की याद हो आती है। “मैं तो सीधी-साधी बात

करने वाला आदमी हूँ जहाँ सच्चाई है वहाँ खुदा है...” वास्तव में वह इक्कीसवीं सदी की काया में 18वीं सदी के व्यवहार को ही जीता रहा है।

...वही मजीद ड्राइवर आज कई दिनों से मरणासन है। देखते ही देखते, कितना कुछ बदल गया, उसके क्वार्टर में चारों ओर बेतरतीबी बिखरी पड़ी है। सारा संबंध छूटता जा रहा है। कपड़े डालने, सुखाने की रस्सी कब से टूटी पड़ी है। मानों संसार छूटता जा रहा है। कुछ भी बस में नहीं है...

नलके की भीड़ में रखी हुई, चमकती पीतल की बाल्टी हो या टट्टी के लाइन में रखा हुआ उसका नक्काशीदार मुरादाबादी लोटा, दूर से ही पहचान लिया जाता— वह अपनी पन्द्रह वर्षों की सर्विस में बड़ा ईमानदार और अफसरों का प्रिय रहा है। चाहे गाड़ी चार बजे सुबह निकालनी हो या दो बजे रात को, हवाई अड्डे साहब को छोड़ना हो, मजीद ना-नुकुर नहीं करता। पत्नी के रहते हुए भी प्रायः सुबह और रात का भोजन स्वयं पकाता। वह कहता कि पेट के कारण ही प्राणी एक-दूसरे के निकट रहते हैं। जिनके पास पेट भरने के साधन नहीं होते, वे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से संसार में उपेक्षित होते रहते हैं।

हाँ पीतल की थाली और लोटा उसके क्वार्टर की विशेष शोभा होती। जो अब शुद्ध ब्राह्मणवादी घरों से भी लुप्त होते जा रहे हैं।... हम लोग तो कई बार उसके खाना पकाने का मजाक उड़ा लेते, पर वह खीझता नहीं। वह बताता कि “आज तो पाक विधि की पढ़ाईयाँ शुरू हो गई हैं और इसे प्रायः लड़के पढ़ रहे हैं। मेरे ही साहब का बड़ा लड़का होटल मैनेजमेंट पढ़ रहा है। अब बताइए... क्या-क्या नहीं हो रहा है। यह दाल भात ही छौंक-बघार कर कई किस्मों में रख दिया जाता है... और कोई टेढ़ा-बांका नाम रख कर बिन भूख के लोगों को अच्छे दामों में बेचा जाता है। दरअसल वे खाने के लिए जीते हैं और हम जीने के लिए खाते हैं।...

मजीद की दाल मशहूर थी। वह दाल नहीं एक किस्म की सब्जी होती थी। कभी बैंगन, तो कभी कद्दू, कभी तरोई, गाजर, बिट, सेम, पालक, पपीता, नेनुआ, भिंडी आदि दाल में छोड़ देता... वह अपनी दाल तो मेहरा साहब

को भी चखा चुका था।

हम एक साथ काम करते हुए भी बहुत से मुद्दों पर भिन्न थे। पर दोस्ती की शाख को कभी कमजोर नहीं होने दी हमने। जो चीजें बुरी लगती, उससे आँखें मूंद लेते। मैं मांस, मछली खाता, उसे कोई ऐतराज नहीं होता। हम कभी लड़े नहीं। किसी मुद्दे पर। न धर्म पर, ना ही यूनियनबाजी पर और ना ही राजनैतिक बहस पर...

उसका अपना अंदाज था। वह पत्नी के रसीले मन को कम, घर के रख-रखाव पर विशेष ध्यान देता रहा। पर चार दीवारी की शुद्धता एवं स्वच्छता की हद पार कर महानगरीय गलाजत उसके घर में ढुक आई थी। पत्नी और संतानें कलकत्ते की बस्ती की बेहयाई में डूब गई थीं। मैं जानकर भी कुछ नहीं बोलता और न उसकी आँखें थीं, यह सब देखने की। उसकी पत्नी इस मामले में बहुत सतर्क रहती..., वह नमाज पर बैठी होती पर निगाह खिड़की के बाहर होती है। कलुआ भी बड़ी सतर्कता से सेंध मार रहा था...

मजीद की पत्नी आज सुबह से ही बहुत उखड़ी-उखड़ी है। कई बार लड़की को बाल पकड़कर पीट चुकी है और अवधी में गरिया चुकी है। गालियाँ देता उसका चेहरा अच्छा नहीं लगता। उसकी बुरी और भद्दी गालियों को सुनने के बाद उसके कसबिनी चेहरे पर कोई भी अपनी कामुक काल्पनिक संतुष्टि ‘खुदलुत्फी’ कर सकता है। उसकी वह छवि घंटों मन में बनी रह सकती है। मैं भी काल्पनिक संतुष्टि ‘खुदलुत्फी’ कई बार ले चुका हूँ। आज उसकी आँखों की विरानी पढ़ी जा सकती है। मैं भी कुछ परेशान हूँ। कई बार फेकू का लड़का, कलुआ मजीद ड्राइवर के क्वार्टर के आस-पास फेरा लगा चुका है।

मैं सुबह प्रायः उसकी पत्नी से मिलकर ही अस्पताल होते हुए काम पर जाता हूँ। पर मैं भी दो-तीन दिन से परेशान हूँ। चिंतित हूँ। ड्राइवर की हालत अब देखी नहीं जाती। हॉस्पिटल का खर्च अब वश के बाहर होता जा रहा है उसकी पत्नी अब पैसे से परेशान रहती है। उसका चेहरा कितना खराब और चिड़चिड़ा सा लगता है। वह ज़रा-ज़रा सी बात पर तुनक जाती है रात को कल से हॉस्पिटल में तो मैं ही सो रहा हूँ। मैं सब समझ रहा हूँ कि अब मजीद बस

लाश रह गया है।

लेकिन आज मैंने फैसला कर लिया है। मजीद की जिंदा लाश दफनाने लायक कर दूँगा। अब मुझे उसका दुःख नहीं देखा जाता। उसके परिवार की तंगी से मैं भी दुःखी हो रहा हूँ। भले इसका मुझे पाप लगे। उसकी पत्नी दिन में ही एक-दो बार अस्पताल जाती है शाम को जब विजिटिंग आवर खत्म होगा तब मैं सारा काम तमाम कर दूँगा। इसके लिए अपने ईश्वर और मजीद के खुदा से क्षमा मांग लूँगा।

...हाँ उसकी समय धारक नली खींच दूँगा, मजीद की साँसें टूट जाएँगी। उसे मुक्ति मिल जायेगी। हाँ यह पाप नहीं पुण्य ही होगा। मजीद के लिए भी और उसके परिवार के लिए भी। हाँ-हाँ मैं यह जरूर करूँगा। उसकी पत्नी आजकल कितनी परेशान रहती है। सारे पैसे निकल गये हैं।

उसके भी मन में न जाने क्या विचार है कि कुछ बताती नहीं। पर यह बात उसे बताना भी तो ठीक नहीं है उसके गाँव का आया हुआ रिश्तेदार अभी गया नहीं है। उससे वह खूब बातें करती है। मुझे तो अच्छा नहीं लगता। वह चुड़की दाढ़ी वाला किसान सरीखा व्यक्ति मुझे एकदम नहीं भाता। जब देखो सटा बतियाता रहता है।

...मुझे तो मजीद की खूँटी पर टंगी ड्राइवरी ड्रेस देखकर हूंक उठती है। लगता है वह अभी-अभी बत्रा या सेन साहब को ड्राप करके आया है। ऑफिस के कुछ लोग तो शुरू में एक दो बार सहानुभूतिवश आये थे। पर किसे चिन्ता है, इतनी कि कोई किसी के लिए अपना समय दे ? मैं तो यहीं पास में भू-कैलाश में रहता हूँ इसलिए यहां

इकबालपुर आना रोज नहीं खलता।

पर मेरा मन तो मजीद की पत्नी में रहता है। इस स्वार्थ लिप्सा को सोच कर तो स्वयं भी जी लजा जाता है। क्या करूँ वह है ही ऐसी। लाख रोकने से भी मन नहीं रुकता। ऋषिमुनियों का भी ध्यान भंग होता रहा है, इस माया में। अजीब खिंचाव है, ससुरी स्त्री काया में। इस बार गाँव जाऊँगा तो खरपतिया को साथ लेता आऊँगा। पत्नी के साथ रहने पर मन-मिजाज शांत रहता है।

ऑफिस से सीधा अस्पताल आ गया हूँ। शाम के साढ़े छः बज रहे हैं। विजिटिंग आवर्स खत्म होने वाला है। मरीजों के रिश्तेदार धीरे-धीरे बाहर निकल रहे हैं। मैं नवें तल्ले के चार नं. आई.सी.यू. कैबिन के द्वार पर खड़ा सोच रहा हूँ। मन में कई तरह के विचार आ रहे हैं- कभी स्वस्थ मजीद सामने नजर आ रहा है तो कभी उसके बच्चे... मुझे ऐसा लग रहा है कि मजीद की पत्नी मेरा गला पकड़कर चीखते हुए कह रही है कि मैंने उसके पति को मार डाला है। मैं उसके सुहाग का कातिल हूँ। मैं उसके बच्चों का मुजरिम हूँ।

...नहीं-नहीं, इस वक्त मजीद को जिन्दगी के भ्रम से मुक्त करना ही उचित है।... यह उसके बच्चों के हक में बेहतर है। यही सोचते हुए अचानक मैं अपनी जड़ता तोड़ता हुआ कैबिन में प्रवेश कर गया हूँ...!

मजीद मेरे सामने पड़ा है, सफेद चादर में लिपटा... अरे! यह क्या? मन सिहर उठा है। शरीर कांप रहा है जीवन धारक नली खुली हुई है और मजीद का शरीर ठण्डा पड़ा हुआ है.... (?)

संपर्क :

3-बी, बंगाली शाह वारसी लेन, दूसरा तल, फ्लैट नं. 4, खिदिरपुर,
कोलकाता- 700023, मो. 9339847198

तेलुगु कहानी

एक जूही की कहानी

मूल: डॉ. के. एन. मल्लीश्वरी

अनुवादक : डॉ. वी. एल नरसिंहम शिवकोटि

नौ साल की हमारी बेटी जूही के मुँह से वे बातें सुनकर मेरे पैरों तले ज़मीन हिल गयी। बस! देखती रह गयी मैं। मुझे ऐसे ही छोड़ कर वह अपने कमरे में जाकर पढ़ने बैठ गयी।

तुरंत मैंने अपने पति को फोन लगाया। उनके घर आने की खबर सुनकर मैंने चैन की साँस ली। उनके आने तक अनमनी बनी रही और बीच-बीच में जूही को देखते हुए समय काटा।

पंद्रह-बीस मिनट के अंदर ही श्रीधर घर पहुँच गया।

कमरे में पढ़ती जूही को और हॉल में टहल रही मुझको देखकर किसी दुर्घटना की आशंका से मुक्त होकर आराम से पूछा- ‘फोन क्यों किया तुमने?’

मैं और ज्यादा देर इंतजार नहीं कर पायी।

‘मैं बैठकर पढ़ रही थी। जूही भी आकर साथ में बैठ गयी। मेरी किताब में से दो-तीन वाक्य पढ़कर उसने पूछा- ‘माँ, स्त्रीवाद क्या होता है?’- थोड़ी साँस ली मैंने।

‘अरे वाह! मेरी बच्ची अभी से ढेर सारे सवाल करने लगी।’- बड़ी खुशी से कहा श्रीधर ने।

‘सुनो पहले, असली बात तो आगे है। इस उम्र में बच्चों के सवालों को नहीं टाल देना चाहिए। इसी उद्देश्य से मैंने उसे समझाया। अच्छी तरह समझने लगी, तो मैंने आगे भी कुछ और ‘वादों’ के बारे में संक्षेप में समझाया। सब कुछ सुनने के बाद, मालूम है उसने क्या कहा? उसने कहा कि वह ‘शिशुवाद’ के लिए लड़ेगी।

श्रीधर निश्चेष्ट होकर रह गया।

मुझे बड़ा आश्चर्य लगा। मैंने पूछा कि यह ‘शिशुवाद’ क्या होता है? उसने कहा कि “पीड़ित सभी बच्चों का एक साथ इकट्ठा होकर अपने मनपसंद काम करने के लिए लड़ना।” बात लड़ने-झगड़ने की नहीं है। लेकिन बोलते समय वह एक अजीब-सी अशांति से त्रस्त है। मेरा दिमाग एक साथ कई तरह के सोचने लगा। कहीं हम बच्ची को परेशान तो नहीं कर रहे हैं? कहीं उसके दिल को चोट तो नहीं पहुँचा रहे हैं?

श्रीधर खामोश। “क्या, क्या! क्या हुआ? क्या हुआ? हमारी बच्ची, हमारी बच्ची, जूही दुःखी है, परेशान है?” बेटी कभी परेशान हो, उसे छोटी-सी भी तकलीफ हो तो श्रीधर के मुँह से एक ही शब्द दो-दो बार निकलना स्वाभाविक है। उससे मुझे चिढ़ भी है।”

लेकिन, आज मैं यह सब सोचने की स्थिति में नहीं हूँ।

“बात करूँगा, जूही से बात करूँगा” कहते हुए पंख खोले पंछी की तरह दोनों हाथ फैला कर अपनी बेटी के पास जा बैठा।

आँखों में आँख डालकर ताक रहे बाप को डाँटते हुए जूही ने कहा- “बाबा! मुझे पढ़ने दो।”

“हाँ, हाँ! पढ़ो, पढ़ो। तुम ठीक हो न! ठीक तो हो न!”

“ऐसे दो-दो बार मत पूछो बाबा!” गुस्से में चिल्लायी जूही।

“ठीक है, ठीक है...” कहते हुए हॉल में आ गया।

“श्री! इसके बारे में हमें सोचना होगा। कितनी अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति है ‘शिशुवाद’। मुझे तो लगा कि किसी ने हम पर चाबुक चलाया। यदि सच में वह परेशान है, दुःखी है तो हम ही उसके शोषक हैं और हम ही जिम्मेदार भी।” रुद्ध स्वर में कहा मैंने।

“बाप रे बाप! इतनी बड़ी-बड़ी गालियाँ मत दो। मैंने हमेशा उससे प्यार ही किया। कभी डाँटा तक नहीं”- तिलमिलाते हुए कहा श्रीधर ने।

“अभी भी बच्चों जैसी बातें मत करो। हमारे प्यार और हमारी सुरक्षा में कहीं कुछ गड़बड़ है। शायद हमारा प्यार उसकी जिंदगी को संकुचित कर दे रहा है। छोटी-मासूम बच्ची इस पर क्या तर्क-वितर्क कर सकती है? श्री! अब हमीं को उसकी दुनिया में झाँकना होगा। यदि बच्ची ऐसे ही परेशान रहेगी तो समस्याएँ और घेर लेती हैं।” श्रीधर भी मेरी बात से सहमत हो गया।

.....

बड़े अनमने, चिड़चिड़ाहट से घर पहुँची। ऑफिस के काम-काज का तनाव, साथ में सर्दी-जुखाम। घर पहुँचने के बाद भी ऑफिस की साथी सुजाता की ही याद आ रही है। ऑफिस से वापस आते ही घर में मैं श्री को देख थोड़ी खुशी हुई।

“श्री! ...मेरी कलीग सुजाता को तो तुम जानते हो न! उसके पति दयाकर ने उसे पीटा। कितना पाशविक है। वैसे सुजाता का स्वभाव भी कुछ ठीक नहीं है। रिश्वत लेती है। इधर की बातें उधर और उधर की बातें इधर पहुँचाकर आपस में झगड़ों का कारण बनती है। लेकिन दया तो बहुत अच्छा आदमी है। मैं तो उसे बचपन से देखती आ रही हूँ। लेकिन फिर ऐसा क्यों किया उसने? बेचारी सबके सामने बहुत रोयी। जो भी हो, दया ने जो कुछ भी किया, गलत किया।” बड़े उद्वेग से कहा मैंने।

“सुजाता ने कितना सताया होगा कि दया ने हाथ उठाया।”- कहा श्रीधर ने।

यह बात सुनते ही मैं गरज उठी।

“सताएँ तो क्या हाथ उठा देता? पीटने का उसका क्या हक बनता है? तुम भी तो मुझे रोज-रोज बहुत सताते रहते हो, तो क्या मैं भी तुम्हें पीटूँ? इतनी गलत बात की तरफ़दारी कैसे कर सकते हो?” बड़े जोर-जोर से पूछा मैंने।

“नहीं, नहीं मेरा मतलब वह नहीं है, मेरा मतलब है कि...”

“तुम्हारे मतलब से मेरा कोई मतलब नहीं है। तुम इतना गिरकर बात मत करो।” मेरा सिरदर्द और बढ़ गया। श्रीधर और कुछ समझाने लगा कि इतने में हॉल में से कुछ टूटने की आवाज़ आयी।

तुरंत हॉल में गये। हमारी पहली मुलाकात की याद में श्रीधर द्वारा भेंट किये गये काँच के चिड़िया-जुगल का खिलौना टूट कर जमीन पर टुकड़ों में बिखरा हुआ है। उन टुकड़ों की ओर देखती रही जूही...

मैं अपने आपको रोक नहीं पायी।

“दिमाग है? पहले तूने उसे उठाया ही क्यों? क्या काम है हाथ लगाने का?” जोर-जोर से चिल्लाते हुए हाथ उठाया मैंने। पल भर में उसका चेहरा झुलस गया। परेशान होकर मेरी ही ओर देखती रह गयी।

उसकी नज़र मुझसे सवाल कर रही है। श्रीधर हैरान होकर हमारी ओर आते-आते रुक गया। ऐसा लगा कि किसी ने मुझ पर चाबुक चलाया। मेरा हाथ अनायास ही नीचे आ गया। जूही चुपचाप सिर झुका कर अपने कमरे में चली गयी। मैं निस्सहाय होकर देखती रह गयी। मैं क्या करने गयी? पल भर पहले स्त्री-अधिकारों पर भाषण देकर इस छोटी कली पर हाथ उठाने कैसे गयी मैं। कितनी बड़ी गलती की मैंने? मैं अपने हाथ की ओर विभ्रम से देखती रही। इतने में श्रीधर हाथ पकड़ कर मुझे अंदर ले गया।

“मुझे देखकर कैसा लग रहा है?” असहाय होकर पूछा।

“तुम थोड़ी देर आराम करो, बाद में बात करेंगे।”

श्रीधर का चेहरा भी काफी गंभीर है।

“नहीं, अभी बात करनी है। बेचारे ये बच्चे क्या जानते हैं...? हमारे तनाव और हमारी परेशानियाँ उनके मासूम गालों पर तमाचे बनकर दर्शन देते हैं तो हम पर उनके भरोसे पर ही प्रश्न-चिह्न लग जाता है। सिर झुकाकर

चले जाते हैं। बेचारे वे क्या जानते हैं लड़ना-झगड़ना।”

चुप हो जाओ मंजु! आगे से बच्चों के छोटी-छोटी बात पर भी ध्यान देंगे। उनका अपमान नहीं करना है क्योंकि हमारे ही घर में एक ‘शिशुवादी’ है। हँसते-हँसते आखिरी वाक्य भी जोड़ दिया श्रीधर ने।

थोड़ी देर रुक कर जूही से माफी माँगने गयी। जूही अपने कमरे के खिलौनों की ओर निस्सहाय होकर देखती बैठी।

मुझे देख ज़रा-सा डरने भी लगी। मेरा मन विचलित हो उठा। माँ को देख लाड़ से लिपट जाना चाहिए था लेकिन बच्ची का माँ को देख कर डरना!? उनके सिर पर हाथ रख, गाल सहलाते हुए मैंने कहा- “सारी जूही आगे कभी ऐसा नहीं करूँगी।”

पल भर के लिए मेरी आँखों में देख कर मुझसे लिपट गयी। “माँ! मैं भी सॉरी! तुमको वह खिलौना बहुत पसंद है न! तुम रोज उसे देखती रहती हो न! मैंने उसे तोड़ा नहीं माँ। वह तो टूट गया। मैंने जानबूझ कर नहीं किया माँ। अब क्या करूँ? वह तो टूट गया। उस खिलौने के लिए तुम रोओगी तो नहीं न माँ! असहाय होकर पूछा उसने।

बस है! पश्चात्ताप से बढ़कर सजा क्या हो सकती है? इस अपराध-बोध से मुक्त कराने के बजाय हाथ उठाना कितना बेहूदा काम है? कितनी तकलीफ हुई होगी उस कोमल मन को?

आपसी सांत्वना के इस दृश्य को देख बड़ी खुशी से श्रीधर भी अंदर आ गया।

“रोने-धोने की कोई बात नहीं है। कल मैं तीन चिड़ियाँ वाला खिलौना ले आऊँगा। मैं भी कब से सोच रहा हूँ कि वह दो वाला क्या है, होना तो तीन चिड़ियाँ वाला चाहिए।” जल्दी-जल्दी बेटी के आँसू पोंछते हुए श्रीधर ने कहा।

उस दिन जूही को श्रीधर के बड़े भाई के घर छोड़ आए। उनके दो बच्चे हैं। बेटा जूही से दो साल और बेटी साढ़े तीन साल बड़ी है। श्रीधर का मानना है कि उनसे मिलते रहने से जूही को अकेलापन महसूस नहीं होता है। एक बड़े भाई और एक दीदी के होने की भावना ही उसे हिम्मत देती है।

शाम में जूही को ले जाने हम वहाँ पहुँचे। श्रीधर बाहर ही खड़ा है। अंदर पैर रखते-रखते खिड़की में से वह

दृश्य देख मैं अचंभित रह गयी।

तीनों बच्चे किसी चीज़ के बारे में झगड़ा कर रहे हैं। लड़के ने जूही को एक तमाचा मारा। बेचारी जूही ने गाल सहलाते हुए सिसकियों के बीच कहा- किसी को भी दूसरे को मारने का अधिकार नहीं है। मेरे माँ-बाप ही मुझे नहीं मारते।

“इसीलिए... लाड़ ज्यादा हो रहा है। हम तुमसे बड़े हैं, हम मार सकते हैं।”- कहते हुए इस बार लड़की ने जूही को तमाचा मारा।

“मैं अपने बाबा को बताऊँगी” कहकर जूही जब दौड़ने लगी तो दोनों भाई-बहन ने मिलकर जूही को पकड़ लिया और जबर्दस्ती करने लगे कि प्रॉमिस करो कि नहीं बताओगी। उन बच्चों की आँखों में द्वेष देख काँप उठी।

इतने में होश सँभाल कर मैंने पूछा- “बेटा! यह क्या है?” पल भर के लिए दोनों चौंक उठे, फिर दौड़ते हुए अपनी माँ के पास जा बैठे। इतने में मैंने जूही को बाहर उसके पिता के पास भिजवा दिया।

“बच्चे खेल-कूद में हजारों लड़ाई-झगड़े करते रहते हैं। हमें उन पर ज्यादा ध्यान नहीं देना है मंजू!”- उल्टा मुझे डाँटते हुए कहा मेरी जेठानी ने। अपनी माँ के ये शांति-वचन सुनते ही बच्चों ने एक बेपरवाही की नज़र मुझ पर दौड़ायी। मैं चुपचाप वहाँ से निकल गई।

“क्या हुआ, क्या हुआ.... जूही का चेहरा, चेहरा..., ऐसा क्यों हो.... क्यों हो गया... बोलो, बोलो...” श्रीधर बेचैनी से अपने ही तरीके से पूछने लगा।

मैंने कहा कि पहले घर चलेंगे। रास्ते भर सोचती रही। धीरे-धीरे एक-एक करके सारी बातें याद आने लगी। जूही ने कई बार वहाँ जाने से मना किया। धीरे-धीरे मना करना छोड़कर चुपचाप जाने लगी। तो हमें लगा कि जूही वहाँ खुशी से जा रही है।

हम जानते हैं कि थोड़े बड़े बच्चे अपने तनाव से पार पाने के लिए अपने से छोटे बच्चों पर अधिकार चलाने का रास्ता अपनाते हैं। हिंसापूर्ण उस अधिकार से अपने अहं को तृप्त करते हैं। समझ कर भी जागरूक नहीं हो पाये। कब से चल रहा है यह हिंसाकांड? जूही की आँखों से आँखें मिलाना मेरे लिए मुश्किल हो गया। शायद यही कारण है कि जब भी वहाँ से लौटती है तो उस रात को

नींद में चौकती, रोती रहती है। एक बार मैं यह बात पूछने भी वाली थी कि फिर भूल गयी।

वापस घर पहुँचे। जूही, पड़ोस की अपनी दोस्त के साथ खेलने गयी। मैं और श्रीधर अंदर गए। मैंने श्रीधर को पूरी बात समझायी। वह डर से काँप उठा। लाल होकर आँखें भर आयीं।

“इतनी... इतनी तकलीफ कैसे... कैसे बर्दाश्त कर पायी? क्या करूँ मैं? जूही से पूछो... रो रही है क्या देखो देखो देखो।” परेशान होकर इधर-उधर घूमने लगा।

भोजन के बाद जूही को साथ में बिठाकर पूछा। “भैया और दीदी ऐसे पीट रहे हैं तो हमें बताना है न बेटा?”

“मैंने बताया था न दो बार! तब तुमने कहा कि “ऐसी शिकायतें नहीं करनी चाहिए। बुरी आदत है... तुम्हारा सबसे मिलजुल कर रहना ही मुझे पसंद है।” बाबा को भी एक बार बताया तो बाबा ने भी कहा “भैया और दीदी से खूब प्यार करना है। तभी तुम मुझे पसंद हो।” जूही की बातें सुनकर हमारे दिल टूटने लगे।

सच है, बच्चे तो बच्चे होते हैं। मुट्ठी भर के हमारे प्यार के लिए पहाड़ भर का दर्द बर्दाश्त कर जाते हैं।

“ऐसा कुछ कुछ नहीं नहीं। तुम जैसी भी हो, हमारी प्यारी प्यारी हो। बहुत बहुत प्यारी हो। सबसे मिलजुल कर जरूर रहना है। लेकिन, ऐसा कुछ है तो हमें जरूर बताना है।” बेटी के सामने बैठ विचलित मन से कहा श्रीधर ने। जूही ने हाँ कहते हुए सिर हिलाया।

जूही के सो जाने के बाद हम दोनों ने काफी देर तक चर्चा की।

“श्री! उन बच्चों के आँखों में द्वेष! उनके चेहरे से मुस्कान ही गायब है और वे चेहरे... कितने असहज लग रहे हैं। बच्चे क्या बनते जा रहे हैं?” दुःखी होकर कहा मैंने।

“और क्या होंगे बच्चे... चारों ओर तनाव ही तनाव। सुबह चार बजे से लेकर रात दस बजे तक पढ़ाई, पढ़ाई, रैंक, रैंक यही एक काम है। अच्छे नंबर नहीं मिलने पर स्कूल में पिटाई। घर में भैया-भाभी भी पीटते हैं। पढ़ाई की ही बात नहीं, छोटी से छोटी भूल के लिए भी पहले पीटकर बाद में बात करते हैं। बच्चों की गलती को समझाकर बताते ही नहीं। और टी वी, सिनेमा, फाइटिंग... उनकी

दुनिया में चारों ओर हिंसा ही हिंसा। बच्चे फिर ऐसे नहीं तो कैसे बनेंगे।” श्रीधर ने विवश होकर कहा।”

इतना सब जान-समझकर कैसे छोड़ देते हो? ये ही बच्चे बड़े होकर कॉलेज में रैगिंग करेंगे। जो प्यार नहीं करते उनको मार डालते या फिर खुद को मार लेते हैं। बड़े होकर अपने बच्चों को इससे ज्यादा पीटते हैं। अपनी जिंदगियाँ बरबाद कर लेते हैं। ऐसे नहीं छोड़ सकते हैं। एक बार दीदी से बात करेंगे।” दुःखी मन से कहा मैंने।

दो दिन बाद इस बारे में ज़रा-सी बात की हमने। उन लोगों को बहुत गुस्सा आया।

“कहीं नहीं देखा मैंने कि बच्चों के खेल-कूद, लड़ाई-झगड़ों में बड़ों का दखल देना” – विरोधी स्वर में कहा मेरी जेठानी ने।

.....

“माँ मैं इस स्कूल में पढ़ नहीं सकती” – स्कूल से वापस आते ही कहा जूही ने।

“क्या हुआ बेटा?”

“एक बार आप दोनों ने मेरे स्कूल आकर बिना पिटाई करे मुझे पढ़ाने को कहा न! उसके बाद से सोशल मैडम, साइंस मैडम, हिंदी सर मेरा मजाक उड़ा रहे हैं।” – आक्रोश में कहा।

“क्या कह रहे हैं?”

“अच्छा, तुमको तो पीटना नहीं न! फिर तुम ही बोलो कि पिटाई चाहिए या फिर यूनिफार्म उतार कर ग्राउंड में नंगा दौड़ेगी?” रोज़-रोज़ यही तमाशा! सभी लोग हँसते हैं। लड़के तो ‘शेम शेम’ बोलते हैं। तब मैं रो लेती हूँ। और कहीं चले जाने का मन करता है। फिर भी बाबा के लिए चुपचाप रह जाती हूँ।”

हम जानते हैं कि पिटाई से ज्यादा बातों से ही जूही अच्छी तरह समझती है। यही बात हमने स्कूलवालों से कही थी। इसे मज़ाक बनाकर बच्चों को बातों से अपमानित करना कितना घृणास्पद है। उनका मासूम हृदय कितना आहत होता है?”

“बाबा के लिए क्यों चुप रह गयी?” जबर्दस्ती मुस्कुराते हुए पूछा मैंने।

“बाबा ने बताया कि यह बहुत बड़ा और अच्छा

स्कूल है। इसमें जो भी बच्चे पढ़ें, वे बड़े-बड़े डॉक्टर बने। बाबा चाहते हैं कि मैं भी बड़ी डॉक्टर बनूँ और गरीबों का मुफ्त में इलाज करूँ, इसलिए बाबा के लिए....” उसका गला रुँध गया और सुनकर मैं पानी-पानी हो गयी।

कितना कुछ बर्दाश्त कर लेते हैं ये बच्चे! पहाड़ों जैसे हमारे लक्ष्यों को अपने छोटे-छोटे कोमल कंधों पर असहनीय पीड़ा को सहते हुए ढोते रहते हैं। फिर ये बच्चे सिद्धांत कहाँ बना सकते हैं। वह मौका ही कहाँ मिल रहा है इनको?”

“मुझे अपना मनपसंद विषय पढ़ने नहीं देते। मुझे कविता, कहानी पढ़ना बहुत अच्छा लगता है। लेकिन नहीं, हिंदी में बात करें तो फाइन.... अच्छी-अच्छी कविताएँ पढ़ने नहीं देते। सोशल में कुछ सवाल पूँछू तो कहते हैं कि पहले सिलबस पूरा करो। मुझे ऐसा पसंद नहीं माँ। मैं अपने मनपसंद की पढ़ाई करूँगी।” बड़ी स्थिरता से कहा जूही ने।

उसके बाद हम लोगों ने जूही के लायक स्कूल की तलाश की। क्योंकि अब वह खुद आगे बढ़ना चाहती है। अपनी लड़ाई स्वयं लड़ना चाहती है। जिंदगी से, व्यक्तियों से और समाज से भी। जूही को उस ओर ले जाने वाले स्कूल की तलाश है।

आखिर शहर से दूर बड़े बगीचे में एक बाल-विकास केंद्र मिल गया। जूही को वह स्कूल अच्छा लगा। बिना तनाव डाले, बच्चों को उनकी इच्छा के अनुरूप पढ़ने में प्रोत्साहित करते हैं। बच्चे स्वयं अपने लक्ष्य तय करते हैं। उनको उस ओर आगे बढ़ाने की स्कूलवाले भरसक कोशिश करते हैं। आखिर जूही वहाँ भर्ती हो गयी।

आजकल जूही अपने निर्णय स्वयं लेने लगी है अपनी भावनाओं के मुताबिक। हमने छोड़ नहीं दिया, लेकिन रोका भी नहीं। दूर खड़े होकर भला-बुरा समझा रहे हैं बस। इससे जूही में एक स्पष्ट परिवर्तन, अंदर से चेतना, चेहरे पर मुस्कान आ गए।

उस दिन श्रीधर के पास बैठकर उसने कहा- “बाबा! मैंने एक निर्णय लिया है।”

“क्या?”

“मैं साइंटिस्ट बनूँगी।”

श्रीधर का चेहरा खिल उठा।

“अच्छा है... साइंटिस्ट बनना.... अच्छा है।”- श्रीधर ने फूले न समाते हुए कहा।

“साइंटिस्ट बनकर मैं सूरज पर कदम रखूँगी।”

श्रीधर का चेहरा एकदम उतर गया।

“गरम, गरमी... नहीं बेटा नहीं.... जलता है... झुलस जाती हो.... नहीं.... नहीं।” कह दिया।

“बाबा! तुमको कुछ भी नहीं मालूम है। सूरज बहुत अच्छा है। हमारा अच्छा दोस्त है। मैं सूरज पर ही जाऊँगी।” ज़िद करने लगी।

“नहीं जा सकते। कोई नहीं जा सकता। देखो कितना दूर है फिर भी कितनी गर्मी है। और थोड़ी दूर धूप में चलने से बेहोश भी हो जाते हैं। एक काम करो। चाँद पर जाओ। थोड़ा ठण्डा रहता है। चाँदनी भी होती है।” तन्मय होकर कहा श्रीधर ने।

“कई लोग गए बाबा अब तक। मुझे कुछ नया करना है। तो फिर बुध ग्रह पर जाऊँ क्या?” लालच से पूछा।

“ठीक है जाओ। लेकिन वहाँ ऑक्सीजन नहीं मिलता न! साँस कैसे लोगी?” श्रीधर ने सवाल उठाया।

थोड़ी देर सोच कर जूही ने कहा- “मिट्टी के साथ पौधे ले जाऊँगी। उनसे ऑक्सीजन मिल जाता है।”

श्रीधर गड़बड़ा गया।

अपने स्कूली ज्ञान को याद करते हुए श्रीधर फोटोसिंथसिस, पौधों के बड़े होने के तरीके आदि समझाने लगा। बीच-बीच में जूही अपने सवालों से श्रीधर को परेशान भी करने लगी। यह सब देख मैं हँस पड़ी।

उस दिन तो हमें लगा कि वह हँसी-मजाक में कह रही है। लेकिन, आगे उसके इस स्थिर निर्णय से चकित हो गए।

ग्रहों से संबंधित ढेर सारी किताबें खरीदवायी। सभी से इसी विषय पर चर्चाएँ।

एक दिन नजदीक की लाइब्रेरी के लिए निकल पड़ी।

“क्यों? चकित होकर श्रीधर ने पूछा।

जूही ने कहा- “उस लाइब्रेरी के अंकल मेरे दोस्त हैं न! बुध ग्रह के बारे में उनके पास अच्छी-अच्छी किताबें हैं। आकर पढ़ने के लिए कहा। कुछ समझ में नहीं आने पर समझाएँगे भी।”

“नहीं बेटा, मैं छोड़ आता हूँ लाइब्रेरी तक।” श्रीधर भी साथ में निकल पड़ा।

“नहीं बाबा, नजदीक ही है न! मैं अकेली चली जाऊँगी।”-जूही।

श्रीधर बेचैन होकर- “कोई चॉकलेट वगैरह दें तो नहीं लेना। हमारे नाम पर लेने पर भी किसी के पास न जाना। रास्ता भटक जाए तो... हमारे दोनों फोन नंबर किताब में लिख लो।” ऐसे कई सलाह देकर जूही से दसों गालियाँ खाकर श्रीधर अंदर आ गया।

“अभी खिलौनों से खेलने की उम्र है। लाइब्रेरी जाकर मोटी-मोटी किताबें उठाना क्या आश्चर्य है!- आँखें चौड़ी करते हुए श्रीधर ने कहा।

.....

अपने मुताबिक जिंदगी बिताने की इच्छुक शिशुवादी है हमारी जूही। घेरे में रखकर हम जो पाल रहे थे, उससे कई गुना अच्छी तरह पल-बढ़ रही है आजकल।

ग्यारह साल की उम्र में अंतर्राष्ट्रीय बाल दिवस के अवसर पर दिल्ली में जूही ने अंतरिक्ष विज्ञान पर अपना आलेख प्रस्तुत किया, जिसके लिए उसे खूब प्रशंसाएँ मिलीं।

कई लोग कहते हैं कि आप अपनी बच्ची को बहुत अच्छी तरह पाल रहे हैं, तो हम तुरंत कहते- “हम पाल नहीं रहे हैं। वह स्वयं, सहज रूप में पल-बढ़ रही है। हम तो बस, बीच में टोक नहीं रहे हैं।”

फिर भी मुझमें कुछ तो असंतोष। वह साइंटिस्ट बनकर नाम कमाए तो बस है!! ? ?

कुछ तो कमी। लेकिन समझ में नहीं आ रहा है कि यह कमी मेरी जिंदगी की है या जूही की जिंदगी की। ?”

उसके भविष्य के लिए हम पैसा जमा किया करते हैं। उस भ्रम को तो उसने पहले ही तोड़ डाला। फिर भी यह कमी क्यों ?

उस दिन मैं ऑफिस से वापस आयी। मुझे देखते ही जूही मेरी ओर दौड़ आयी- “माँ, माँ क्या हुआ मालूम.... मालूम...माँ...”

“अरे यह क्या तुम भी तेरे बाबा जैसे बनती जा रही हो। अब तो मैं गयी काम से।”- कहते हुए मुरझाए हुए जूही के चेहरे की ओर देख मैं चकित हो गयी।

“माँ, कितनी... कितनी तकलीफ है- छोटी बच्ची.... कमीज भी नहीं। इतनी कड़ी धूप में एक औरत उस छोटी बच्ची को लेकर भीख माँगती फिर रही है। बहुत छोटी बच्ची है माँ.... बहुत छोटी....” जूही में कुछ तनाव... उद्वेग।

“क्या हुआ बेटा” जूही को अंदर जाकर बिठाते हुए पूछा मैंने।

दोपहर में स्कूल बस सिग्नल के पास रुकी। तब देखा मैंने। बस में ही कितनी गरमी है। फिर बेचारी बच्ची... नंगे बदन से... उसका तो चेहरा ऐसा झुलस गया” अभिनय करते हुए दिखाया जूही ने।

“फिर क्या किया तुमने ? पैसा दिया ?” सांत्वना देते हुए पूछा।

“पहले तो मुझे भी वही लगा माँ। लेकिन फिर बाद में लगा कि हम सब ऐसे पैसे देते जाएँगे तो यही आदत पड़ जाती है और उस बच्ची को रोज-रोज ऐसे ही धूप में घुमाते रहेंगे। इसीलिए तुरंत बस से उतरकर उस औरत के पास जाकर कहा कि यह गलत काम है। ऐसा नहीं करना चाहिए। बच्ची रोती है। आप उस पेड़ के नीचे चली जाओ।”

उस औरत ने कहा कि “पैसा दो, तो मैं चली जाऊँगी।” फिर भी मैंने नहीं दिया। वहाँ एक पुलिस अंकल खड़े थे। मैंने उनको बताया तो हँसते हुए कि ‘ये लोग ऐसे ही हैं।’ कहकर टाल दिया। इतने में ड्राइवर अंकल ने बुलाया तो जाकर बस में बैठ गयी। लेकिन माँ! कुछ तो करना है.... करना है... छोटी बच्ची है माँ। मैंने बस में रो लिया। तुम बोलो माँ क्या करना है।” मेरे हाथ पकड़ कर पूछने लगी।

जूही के चेहरे पर कुछ अलग बेचैनी। उसे देख मेरा बोझिल मन हल्का होने लगा। वह असंतोष और वह कमी धीरे-धीरे मिटने लगे।

“करेंगे बेटा! अब मालूम हुआ न कि क्या करना है। जरूर करेंगे।” बच्ची को गले लगाते हुए मैंने कहा।

संपर्क :

हिंदी अनुवादक (निगम- का. एवं प्रशा.)

भारत डायनामिक्स लिमिटेड, रक्षा मंत्रालय, कंचनबाग, हैदराबाद- 500058, मो. 09989954821

गत 27 नवंबर 2015 को अकरस्मात् आचार्य ब्रह्मदेव मिश्र
के पुण्य प्रयाण पर श्रद्धावनत है मर्माहत 'मुक्तांचल परिवार'।

भूमिका नहीं : परिचय

डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र

भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग

गोवा विश्वविद्यालय

मेरे लिए यह सचमुच एक प्रीतिकर है कि मुझे देवनाथ सिंह आनंद गौतम की एक अभिनव काव्य-कृति 'नव स्पंद' की भूमिका लिखने का सुयोग मिल रहा है, जिसे मैंने भूमिका नहीं : परिचय नाम से लिखना समीचीन समझा है। 'नव स्पंद' का रचनाकाल कवि की काव्य-कृति संचारिणी के पूर्व का है, जिसका प्रथम प्रकाशन वर्ष 2012 में हुआ है; किंतु प्रकाशन की दृष्टि से 'नव-स्पंद' कुछ कारणों से विलंब से प्रकाशित होने जा रहा है। वह शीघ्र ही पाठकों के हाथों में पहुँचे, यह मंगलकामना करता हूँ।

छंद विधान की रचना मुक्त-छंद से कुछ कठिनतर है। हिंदी में मुक्त-छंद के प्रवर्तक निराला ने आधुनिक कविता में कठिन से कठिन छंद को बाँधा है अपने काव्य 'तुलसीदास' में। 'नव स्पंद' कविता हमें एक उदात्त भावभूमि पर ले जाती है। वह साधारण की पहचान असाधारण स्तर पर कराती है। 'नमन' की चार पंक्तियाँ कविता में आनंद गौतम की प्रतिज्ञा अनायास याद आती है—

“नमन उसे जिसने, प्रेम करुणा को उभारा है
नमन उसे जिसने, चाँद-तारों को सँवारा है
जिसके संकेतों से निविड़तम भी गुजर जाता है
नमन उसे, कण-कण में जिसकी शक्ति-धारा है।”

कवि की चार पंक्तियों ने मेरे जीवन-तट को ही नहीं छुआ, पाठकों के मन को भी वैसे ही सरस आर्द्रता के साथ स्पर्श करेंगी। 'नव स्पंद' की मूल टंकित पाण्डुलिपि का आद्योपांत परिवेक्षण करने के उपरांत मेरा इस निष्कर्ष पर पहुँचना सहज स्वाभाविक लगता है कि 'नव स्पंद' के रचनाकार को वाङ्मय तपस्वियों का आशीर्वाद प्राप्त है, तभी तो इस परिणतप्रज्ञ कवि का नाम वाग्देवी के वरदपुत्रों की गौरवपूर्ण परंपरा में शुमार होने लायक है।”

‘नव स्पंद’ की स्वर्ग लहरी नाद-सौंदर्य का पंचम स्वर है। इस स्वर का रस संचार कवि

के पिछले काव्य ग्रंथों में भी हमें यत्र-तत्र देखने को मिलता रहा है, जिसे मैंने कवि की रचनाओं पर केंद्रित अपनी तीनों समीक्षात्मक ग्रंथों- 'सप्तधारा: विमर्श' 'पंचधारा: विमर्श' तथा 'त्रिधारा: विमर्श' में संकेतिक एवं लक्षित किया है। आनंद गौतम के काव्य दर्शन में विश्व-मानव का एक विराट दर्शन होता है। कवि का विश्वास है कि मनुष्य प्रभु की भाषा है या काल की देववाणी है। यहाँ आप देखें कि कवि ने आध्यात्मिक अर्थ में 'प्रभु' शब्द का प्रयोग अधोलिखित प्रार्थना में किया है, किंतु उसमें छिपा भाव विज्ञान के आधारभूत 'ऊर्जा' से भी की है-

“मैंने बातें की हैं प्रभु से
मूक प्रार्थना गीत स्वरो में
मैंने पाया उन्हें हृदय में
मधुर नाम जपते अधरो में
मैंने बातें की हैं प्रभु से
उपासना के गर्भ-गृहों में
मैंने सौंप दिया अपने को
करुणानिधि के कमलकरो में।”

पूरी रचना अष्टपदी है। भारतीय धर्मसाधना में जब व्यष्टि में समष्टि भाव आता है तभी वह नर से नारायण होता है। ऐसे ही उपादानों को काव्य रूप देने का प्रयास आनंद गौतम के कवि ने अपने नवप्रणीत काव्य 'नव स्पंद' में किया है। अनुभाग-एक: अभिनव उद्गीथ की अनेक रचनाएँ इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। 'नव स्पंद' में भाषित प्रयोग के अनुकूल ही उसका संवेदनात्मक विस्तार है। अधिकांश कविताओं में अद्वैत कल्पना है और प्रार्थना की अंतिम पंक्तियों 'मैंने सौंप दिया...' यह कुछ वैसा ही है, जैसा कि कहा गया है 'जाहि विधि राखै राम ताहि विधि रहिये।' यह आस्था और विश्वास कवि का संबल है। 'नव स्पंद' को पढ़ते हुए मुझे गेटे का एक छोटा सा पद

याद आता है- 'जब मन समुद्र में भूला-भटका होता है, तब कोई नया शब्द तैरने का आधार ले जाता है।' यहाँ प्रभु शब्द मुझे ऐसा ही लगा।

आनंद गौतम का कवि अपनी सृजन-यात्रा के अंतर्गत सदा प्रयोगशील रहा है। प्रस्तुत कविता संचयन को दो भागों- 'अभिनव उद्गीथ' तथा 'पांशुता' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम अनुभाग में कुल 122 छोटी, मध्यम कविताएँ संकलित हैं, जिसे कवि ने अभिनव उद्गीथ नाम दिया है तथा द्वितीय अनुभाग में कुल 28 कविताएँ संकलित हैं। इस तरह संपूर्ण काव्य संचयन में 150 कविताएँ 'नव स्पंद' के काव्य कलेवर को समृद्ध करती हैं। मैंने अपने समीक्षा ग्रंथ 'सप्तधारा विमर्श' के सातवें अध्याय में नव उद्गीथ जो आनंद गौतम का सातवां संग्रह है के काव्य संग्रह में कुछ कहने का प्रयास किया है। यहाँ 'नव उद्गीथ' के बाद की रचनाएँ संकलित हैं, इसलिए कवि ने उसे 'अभिनव उद्गीथ' के नाम से लिखा है, जो बिल्कुल उचित है। 'उद्गीथ औपनिषदिक ऋषियों की विधा थी, उनका मुखर स्वर था। श्री आनंद गौतम उसी भूमि के इर्द-गिर्द कुछ कहने का प्रयास करते हैं जो युगोचित चेतना से रचित होने के कारण 'नव उद्गीथ' बन गया है। (डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, पृ. 271) 'सप्तधारा विमर्श' में उद्गीथ के संबंध में बहुत कुछ कहा गया है, जिसे यहाँ दुहराने की जरूरत नहीं है। अतः 'नव स्पंद' की कविता को पढ़ना एक गंभीर अनुभव है जो रचनाकार की उम्र के साथ-साथ अधिकारिक प्रौढ़ होता गया है। 'मूक कफन' में कवि ने त्रिकाल-शक्ति की बात कही है।

आनंद गौतम की कविता के ये स्मरण जीवनानुभूतियों को विविध और विस्तृत वर्णपट को झलकाने वाले हैं। मैंने इस प्राणवान काव्य-संकलन के लिए सभी को हार्दिक बधाई देता हूँ।

समीक्ष्य कृति

पुस्तक : नव स्पंद (कविता संग्रह)

लेखक- देवनाथ सिंह आनंद गौतम

मूल्य- 165 रुपये

प्रथम संस्करण - 2014

प्रकाशक- प्रकर्ष प्रकाशन, उदयांचल निलयम् खालिसपुर

मिर्ज़ामुराद, वाराणसी- 221307

गवम लोहा ले बहा आकाव

विमल वर्मा

संपादक, चंद्रयान

एकांत श्रीवास्तव बीसवीं सदी के अंतिम दशक के विशिष्ट रचनाकारों में अपनी सृजनशीलता के लिए प्रासंगिक बन चुके हैं। इनके साहित्य में जो रचनात्मक कल्पनाएं हैं उनमें वास्तविक समाज का गत्यात्मक पक्ष, नवीन उद्भावनाओं, अर्थ के आशयों, उनकी संभावनाओं के कलात्मक पाठ की आवश्यकता है। जब पाठक उनकी संश्लिष्ट धारणा के व्यावहारिक प्रयोग, अन्तर्वस्तु में निहित प्रकरणों को ध्यान में रखते हुए मानवीय विचार तत्त्वों के संबंधों, सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तु शक्तियों की अन्तःक्रियाओं के लयबद्ध रूपों से भिड़ता है तो उसके समने नए भावनात्मक संकट, जीवनमूल्यों के बीच टकराहट गति और परिवर्तन के अनेकानेक प्रश्न उनको घेर लेते हैं। ये प्रश्न संगत और सार्थक इसलिए हैं कि “ऐतिहासिक ज्ञान और ऐतिहासिक वास्तविकता समुत्पाद्य होते हैं।”

संप्रति भूमंडलीकरण के माहौल में संस्कृति उद्योग, उदारीकरण ज्ञानोदयी संस्कृति का विपर्यय इत्यादि घटना प्रवाहों से भारतीय मानसिकता पर जो ग्रहण लगा है वह हमारे भाव संवेदन की जटिलता और भाषा के वस्तुगत परिवेश को किस तरह और किस मात्रा में बदल रहा है। उस पर कई पत्रिकाओं में भाषा के भाव-संवादी रूप के साथ-साथ सांस्कृतिक ब्लैक आऊट पर बहस जारी है। उनमें रचनात्मक अभिरुचियाँ भी हैं और अवसरवाद की चेतना भी है। मैं यहां उस आवेगात्मक तत्परता से उलझना नहीं चाहता। कविता में आंतरिक उथल-पुथल को समझने के लिए ‘धरती अधखिला फूल है’ कविता संग्रह में संकलित कविताओं में भावनात्मक अनुभूति, विविध अभिव्यक्तियों, उनके रूपों की सार्थकता, उनकी द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ, अनेक मनः स्थितियों को धारण करने वाली भाषा विशेषकर उनमें प्रकट-अप्रकट रचनात्मक तनावों, भाव संवेदन के नए धरातलों की परिधि में अपने को सीमित रखूँगा।

यहाँ विस्तार से व्याख्या, पाठ का अवकाश नहीं है इसलिए निष्कर्ष के रूप में मेरे पठन से यही ज्ञात होता है कि रचनाओं के ज्ञानात्मक निष्कर्ष के मौलिक आधार का जहाँ तक संबंध है उस दृष्टि से इनमें न तो उत्तर-आधुनिक विक्षिप्त बोध है, न इर्रेशनलिटी है, न इनमें इतिहास से स्वतंत्र धारणाशीलता है। मैं उत्तर-आधुनिकता के बारे में विश्लेषण-संश्लेषण में न जाकर दो प्रसिद्ध आलोचकों के अभिमतों पर जोर देता हूँ, जिनसे मैं बहुत कुछ सहमत हूँ।

रैंडिकल आलोचक क्रिस्टफर नारिस ने ‘ऐसेस आन क्रिटिसिज्म’ पत्रिका में ल्यूतार के बारे में लिखा था कि यह महोदय सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान के गंभीर संकट की व्याख्या करते

हुए उत्तर आधुनिकता की पहचान की बात करते हैं। लेकिन, विच्छेदवादी पठन सदैव वर्तमान सांस्कृतिक यथास्थिति में उदार-परिणामवादी विश्वास की एक प्रजाति से अधिक कुछ नहीं है। विच्छेदनवाद एक प्रकार की असफल, आधेमन से ही गयी सट्टेबाजी है।

पाल-दि-मान के बारे में उसी लेख में कहा गया है कि “सुचिंतित दार्शनिक विरोधी के रूप में खड़े हैं। जो, पूरी तरह सोची विचारी हुई अलंकार शास्त्रीय समीक्षा के बहाने ज्ञानमीमांसा के सत्य संबंधी दावों का तलोच्छेदन करते हैं।”

“मार्क्सवादी दृष्टि से उत्तर-आधुनिकता इतिहास, राजनीति, तर्कबुद्धि से बेपरवाह नीत्ये की प्रजाति है।”

मैंने यह उद्धरण इसलिए दिया है कि इस विभ्रमकारी मनोदशाओं से एकांत श्रीवास्तव की कविताएं अछूती हैं। संकलित कविताओं को आज की परिस्थितियों और सत्ता के प्रतिरोधी संबंधों से अलग नहीं किया जा सकता। सन् 60 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय घटना प्रक्रिया ने मानवीय परिस्थिति को अनेक संदर्भों में, उसके आधार और अधिस्थापना में, दर्शन, इतिहास, राजनीति, कला तथा आर्थिक परिमंडल में आधारभूत अंतर और दरारें पैदा की हैं। जिनके कारण खास तौर पर सौन्दर्यशास्त्र नए भावनात्मक संकट के भंवर में फँस गया है। इन अंतरों के कारण मनोगत विचार और वस्तुजगत के एकात्म पर फिर नयी बहसों का प्रादुर्भाव हुआ है। इन धारणाशीलता में प्रकरणों की दृष्टि से एक वास्तविक समस्या के सामने पाठक सम्मुखीन है। वह है हाशिए पर खड़े लोगों को केन्द्र में स्थापित करना। इस संकलन में इस वस्तु-सत्य की सामाजिक संलग्नता, रचना और संघर्ष के व्यवहारों के रिश्ते महत्वपूर्ण हो गए हैं।

भारत में पूँजीवादी विकास की विषमता में एक नहीं अनेक भारत निर्मित किए गए हैं। यहाँ आदिम से उत्तर आधुनिक संरचनाएं वर्तमान हैं। अत्यन्त पिछड़े और अत्याधुनिक विकसित समुदायिक समाज हैं। इसलिए पाठक के सामने सबसे बड़ी चुनौती है कि समाज की विभिन्न संरचनाओं और कृति के बीच के बुनियादी संबंधों को जाँचें और परखें।

बुनकर की मृत्यु (एक) कविता की ये पंक्तियाँ—

“उसने मिट्टी तेल छिड़ककर
आग लगा ली
वह झूल गया फंदे से
उसने छलांग लगा दी गहरे जलाशय में
खा लिया जहर माहुर
तो क्या अपने आत्म को हत्या तक
ले जाने का जिम्मेदार वह खुद ?
पंख काटकर
जीवन-दान नहीं
जंगल जलाकर हिरणों को
छोड़ देना मरुस्थल में
आखेट है।
.....
एक बुनकर से
छीन लेते हो उसका करघा
तो यह भी बध है हथियार उठाए बिना
कभी-कभी आत्महत्या भी
हत्या की तरह देखी जानी चाहिए।”

आज के समय को अनुभूति में ढालने का यह दृष्टांत, भारतीय वर्ग संरचना के अंदर अन्तर्विरोधों के लिए कवि की द्वंद्वत्मक खोज है। इस कविता में श्रम और श्रमिकों की विडंबना और ठोस ब्यौरों की त्रासदी उनके अस्तित्व के संकट और उनके कारकों की पहचान कराती है। कवि द्वारा विषय का चुनाव और अन्तर्वस्तु का कलात्मक रूपायन पाठकों को यह प्रतीत कराता है कि अन्तर्वस्तु का सौन्दर्य क्या है? उसके रचाव की, सामाजिकता और चेतना का स्तर क्या है?

हर पीढ़ी अपने प्रयत्नों से इतिहास में अपना वजूद कायम करती है। उसका भाव सत्तात्मक मानस रचनात्मक शक्ति बनकर समय की मानसिकता का द्वंद्व रचता है। आज जब परिस्थिति अन्तर्विभाजित है। तब तो सृजनशीलों के सामने चुनौती है कि रचना-रूपों में वस्तुओं के भेद को समझा जाय। क्योंकि, पाठक उनमें गहन अनुभवों को नए धरातल पर खोजता है। यह धरातल अन्तर्विरोधों और विरोधाभासों के बिना दृश्यान्तरित हो ही नहीं सकता। ‘लोहा’ कविता में—

‘जंग लगा लोहा पांव में चुभता है/ तो मैं टिटनेस का इंजेक्शन लगवाता हूँ/ लोहे से बचने के लिए/ उसके जंग में संक्रमण से बचने के लिए/ मैं तो बचाकर रखना चाहता हूँ/ उस लोहे को जो मेरे खून में है/ जीने के लिए इस संसार में/ रोज लोहा लेना पड़ता है/ एक लोहा रोटी के लिए लेना पड़ता है/ दूसरा इज्जत के लिए/ उसे खाने के लिए/ एक लोहा पुरखों के बीज को बचाने के लिए लेना पड़ता है/ दूसरा उसे उगाने के लिए।’

यहाँ कल्पनाशीलता में भाषा बहुत सी परंपरागत, संशोधित, संघर्षमयी इच्छाओं को एक ही लक्ष्य में संयुक्त कर देती है। यहाँ व्यावहारिक क्रिया के उपकरण, सामूहिक रूप से एक दृढ़ संकल्पमय सांस्कृतिक वातावरण उत्पन्न करने का प्रश्न पाठकीय चेतना के लिए महत्वपूर्ण हो उठता है। मनुष्य एक प्रक्रिया है। परिवेश से संबंधों की चेतना प्राप्त करना, संबंधों का संयोजन क्या इतना सहज है? व्यक्तिगत अनुभूति के सार्वजनिकरण की प्रक्रिया, भीतरी मनुष्यता और व्यावहारिक क्षेत्र में अन्तर्विरोधों का शमन, संघर्ष के अनुसार व्यक्ति और वर्ग के अन्तःवाह्य में संतुलन स्थापित करना यह सब कुछ मनःक्रियाओं, मनः और कायिक क्रियाओं में संरचित किया गया है। यह सक्रियता, सचेतनता, रूपांतरण की द्वंद्वत्मकता प्रक्रिया का यथार्थ जो युक्तिसंगत है, वह सक्रिय और वास्तविक यथार्थ, जिसमें सिद्धांत और आचरण ज्ञानमीमांसीय तात्पर्य की ओर संकेतित करता है।

एकांत श्रीवास्तव लोगों द्वारा अपरिचित, उपेक्षित मामूली लोगों को अपने प्रयोगों, पर्यवेक्षणों का पात्र बनाते हैं। जैसे ‘सोनझर’ कविता में—

“....गंदे नाले या संकरी नाली के भीतर/ गंदगी और बदबू की परवाह किये बिना/झाड़ू और झरिया लिये ये आते हैं/ अपने पूरे कुटुम्ब के साथ/ ...इन्हें भीख मांगते किसी ने नहीं देखा/ वे भरोसा करते हैं अपनी मेहनत पर/ ...इनकी अंधेरी जिंदगी में/ कभी-कभी दिखती हैं सोने की चमक/ सोना इन्हें कंचन-मृग-सा भरमाता है/ भटकाता है अपने पीछे/ यह सोनझर हैं मगर इनकी बहनें/ नकली कर्णफूल पहनकर मुस्कराती हैं/ और पीतल के गहने पहनकर रोती हुई/ विदा होती हैं इनकी बेटियाँ।”

श्रम सौन्दर्य और श्रम-संस्कृति के बारे में नागार्जुन जी ने साक्षात्कार में कहा था— “‘एक नब्बे-सौ साल की जो वृद्धा है, उसको यदि हम सौ वर्षों से झेले हुए व्यक्तित्व की दृष्टि से देखें तो हमको वो खूबसूरत दिखायी पड़ेगी। लेकिन, जिनकी आँखों को नरम-नरम, कोमल-कोमल वस्तुएँ देखने की आदत पड़ी हुई है उसको वीभत्स लगेगा कि भाई, जो कब्र में पाँव लटकाये हुये हैं उसको रूपायित करने की क्या अनिवार्यता थी... लेकिन ये है कि भाई, पूरा जीवन जीने वाली जो ये वृद्धा है उसके चेहरे पर जो संघर्षों की महागाथा अंकित है उस दृष्टिकोण से उसमें सौंदर्य दिखायी पड़ेगा।” “बाबा जैसी सादगी और जीवन्तता लाना बहुत बड़ी बात है।” (नागार्जुन-स्मृति प्रो. कर्ण सिंह चौहान, चन्द्रयान-१) ऐसी कविताओं की सार्थकता आत्मसजग तकनीक से अधिक समय प्राप्त अन्तर्वस्तु में देखना है। ‘सोनझर’ कविता में परिस्थितियों के भीतर तनाव का मर्म भावनात्मक स्तर पर खुलता है। यहाँ संकेत से अधिक विचार स्फुलिंग के पीछे श्रम की ऐतिहासिक चेतना का आभ्यन्तरीकरण है। कवि ने विचारों पर अनुभव को वरीयता दी है। लेकिन, इसमें अनुभववाद नहीं है। पाठक इसे पढ़कर ज्ञानात्मक बोध अर्जित करता है, वह यह कि सौन्दर्यबोध भी एक प्रक्रिया है। यदि हम मूल्यभेदों की अन्तर्वर्ती सांस्कृतिक दशाओं को, जो इस संकलन की सारी कविताओं में संवेदना को वैयक्तिक-अनुभूति के स्तर द्रवीभूत करता है। कविता-पाठ में सह-संवेदन का उद्रेक इंद्रियों के मानवीय चरित्र को उदात्त बना देता है। उसे यह भी संवेदनात्मक ज्ञान हो जाता है जैसा कि वार्थ के अनुसार ट्रांजिटिव होता है कि उसमें क्या है और हम उसे कैसे पढ़ते हैं। इस तरह पाठक तर्क के आधार पर ऐतिहासिक गहरी दृष्टि से टेक्स्ट को नवीनता और पुनर्रचना से जोड़ सकता है। बार्थ ने ‘रीडरली और राइटरली की व्याख्या के विस्तार में इसी पर अधिक जोर दिया है। मेरी समझ से एकांत की कविताओं में बोध और प्रतिक्रिया के ऐसे तत्त्व हैं जिनसे करीब-करीब समाज अभी भी अपरिचित है। किंतु इन कविताओं में अनुभूति का सम्प्रेषण आत्मीय भाषा में विकसित है।

ऊपर मैंने ‘लोहा’ कविता में व्यवहार और विवेक के

संतुलन की ओर इशारा किया था। निश्चित रूप से यह प्रक्रिया आधुनिक संवेदना और चेतना की मुक्ति से पाठकों को जोड़ती है।

‘डूब’ इस संकलन की अंतिम कविता है। इस आख्यान की पंक्तियाँ—

“कितना भुतहा है समय का स्थापत्य/कितनी लम्बी रात की उम्र/ और यह अध्याय अंधकार को/ जो खत्म नहीं होता/ अध्याय अन्याय का/ जिससे टपकता है/ रक्त।”

निश्चित रूप से संवेग स्वायत्त नहीं होते उनके रूपांतरण की प्रक्रिया में बहुत कुछ भूमिका परिवेश की होती है। परंतु कवि का भाव-विचारस्वत्व सापेक्ष जटिलता इतिहास की आवश्यकता के द्वंद्व से नियंत्रित और सीमित होती है। मैं लोहे में प्रगट आंतरिक आवेग का अवमूल्यन नहीं कर रहा हूँ। परंतु ऐसी ही जटिल परिस्थिति में लूकाच ने चेतावनी दी थी। “एक मल्लाह (नाविक) हवा की दिशा का सटीक निर्णय तो करता है पर हवा को अपना मार्ग निर्धारित करने नहीं देता.... सर्वहारा की स्वशिक्षा एक लंबी और कठिन प्रक्रिया है। मुझे लगता है यहाँ कवि जैसे हैमलेट जैसी यंत्रणा की गिरफ्त में है।

हैमलेट आत्मालोप में कहता है.....

“क्या दुर्भाग्य है कि मैं जिस समय में पैदा हुआ हूँ/ उसकी हर कील टेढ़ी है/ और क्या सौभाग्य/ कि इन्हें सीधा करने के लिए मेरा जन्म हुआ”

समय की मानसिकता का द्वंद्व जब हैमलेट में गहराता है तो वह “टु बी और नाट टु बी” के प्रसिद्ध एकलाप में “टु सफर/ द स्लिंग्स एण्ड एरोज ऑफ आउट्रेजेयसस टार्चर.... टु टेक आर्म्स अगेस्ट द सी आफ ट्रबुल्स/ एण्ड बाई अपोजिंग ऐंड देम/ “फार हू उड बियर द हिप्स एण्ड स्काम्स आफ टाइम्स/ (स्काम्स आफ टाइम यानी, समय की मार)

पिता के प्रेत से मिलने के बाद हैमलेट कहता है— “द टाइम इज आउट ऑफ ज्वाइन्ट/ ओ, कर्स्ट स्पेड/ दैट इवर वाज बार्न टु सेट ए राइट”। जमाना खराब है, उसे बदलना जरूरी है।

यह समय की मार क्या है? द आपरेटर्स रांग जो उत्पीड़क है, वें अन्याय करते हैं, उसे सहना पड़ता है।

(सूत्र— ऐसेज आन शेक्सपीरियन ट्रेजेडी— ले. डा. रामविलास शर्मा)

शेक्सपीयर पुनर्जागरणकाल के बाद के सबसे बड़े कवि थे। 16वीं शताब्दी में इंग्लैंड में महाजनी पूँजीवाद का अभ्युदयकाल था। ...इंग्लैंड के सामाजिक संबंध बदल रहे थे। पुराना भू स्वामी वर्ग अभी सत्ता में बना हुआ था किंतु उनके पुराने तौर तरीके बदल रहे थे। पुराने मूल्य धीरे-धीरे खत्म होते जा रहे थे। उनकी जगह व्यापारी वर्ग की नयी संस्कृति आ रही थी। (वही)

नर्मदा नदी के आस-पास की बस्तियों के गरीबों का विस्थापन, हाल ही में केदारनाथ में भयानक दुःस्वप्नमयी प्रलयकारी घटना क्या है? आज भारत में पूँजीवाद का जो नृशंस चेहरा है। उसे देखकर लगता है शेक्सपीयर युग के द्वंद्व नये प्रकरण में नए स्वरूप धरण कर लिए हैं। पूँजीवादी व्यवस्था का यह ज्वलंत पीड़ादायी इतिहास है। यहाँ— “देखो, चढ़ता हुआ ज्वार/ सुनो, धरती की धुकधुकी/ धक..धक..धक/ कितनी बढ़ गई है/ लुहार धुकनी से झल रहा है हवा/ पज रहे हैं भट्टी में औजार/ गरम लोहा ले रहा आकार/ ये पंक्तियाँ संघर्ष के रूपों की ओर भी संकेत करती हैं।

पुनर्वास की समस्या कैसे हल की गयी थी। इसे अन्नालुई स्ट्रॉंग की पुस्तक ‘स्टालिन का युग’ और पर्यावरण के प्रति मार्क्सवादी दृष्टि से लिखे गए जान वेलायी फास्टर के अनेक लेखों में पढ़े जा सकते हैं। “मेधापाटकर अब नहीं हैं सिर्फ मेधापाटकर/ हर आवाज जो विरोध में उठती है/ मेधापाटकर है/ हर चिनगारी जो दावानल बनती है/ मेधापाटकर है/ हर प्रत्यंचा धनुष की/ जो तीर रखने के बाद/ अधिवासी हाथ से खिंचती है/ मेधापाटकर हैं” यह सही है कि इस आंदोलन के यह प्रतीक हैं। परंतु, एकांत जी/ मेधापाटकर एन.जी.ओ. चलाती हैं। क्रानी कैप्टलिज्म की विरोधी परंतु कैप्टलिज्म की समर्थक है। आजकल बहुत से एन.जी.ओ. को सीआईए एवं पूँजीवादी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ आर्थिक सहायता इसलिए दे रही हैं कि वे आम जनता को सुधार प्रगति की भूल भूलैया में फंसाकर आमूलचूल परिवर्तन की गति में स्पीड ब्रेकर का काम करें।

सबसे बड़ी विशेषता है इतनी लंबी कविता में भवानुभूतियों

का जो वृहद परिदृश्य रचा गया है उसके भावपरक संदर्भों में कहीं फांक नहीं है। पाठक कविता में बिम्बित उस परिवेश में प्रकृति को भी संवेदनशील तत्कालीन चित्त की अवस्थाओं में घुलनशील बना देता है। भौतिक मानसिक विपर्यय में विडम्बनाओं का रचाव शब्दों, पदों, विंबों में गुंथी सघन अनुभूति बन गया है। अनुभूति प्रक्रिया में लय की नाटकीयता, रागतत्व के संकट की वास्तविक छवि, उत्पीड़न की लौकिक दशाएँ, स्वभाव, चिंताएँ आवेग की संवेदना सांस्कृतिक उत्पाद नहीं तो और क्या है ?

जिन माध्यमों ने सम्प्रेषण प्रक्रिया में बुनियादी परिवर्तन ला दिया है। अतएव अनुभव के घटित होने की मूर्त प्रक्रिया में चाक्षुष स्तर पर भाषा को साधने का एक नया रूप “धूप में एक पक्षी उड़ता है” कविता में अभिव्यक्ति- अनुभव का एक नया रूप- “धूप में एक पक्षी उड़ता है/ तो साथ-साथ/ उसकी परछाई भी उड़ती है/ तट की रेत में पड़ती है परछाई/ तो रेत उड़ती है। समुद्र में पड़ती है तो समुद्र/ खेत उड़ते हैं अपने पौधों को लिये हुए।” यहाँ रचनाकार की मनःस्थिति के आलोड़न की संकेन्द्रित छवि मूर्तिमान हो उठती है। अनुभवों का सक्रिय ऐन्द्रिय संवेदन उक्ति की तरह नहीं प्रक्रिया की तरह प्रतीत होता है। ऐसी चित्रात्मक भाषा से जो बिम्ब निर्मित होते हैं वे राग प्रेरित मनोलोक के साथ अर्थ और स्वरूप के संधि विन्यास को भी रूपायित करते हैं। यहाँ शब्द, अर्थ, वर्ण्य-विषय, चेतना की अनुभूति दृष्टिगोचर सी लगती है। इसी कविता का अंतिम अंश- “पत्थर के भारी पंख लिए असहाय/ पर्वत उड़ते हैं/ मन ही मन/ पक्षी उड़ता है के तुम आजाद नहीं हो/ अपनी अदृश्य सलाखों के बीच/ हम छोड़ते हैं गहरी सांस/ गहरी सांस कि ठीक उसी वक्त/ हमारी जलती आँखों में/ एक स्वप्न उड़ता है आजाद/ धरती के मन-प्राण को उड़ान की तड़प से भरता। धूप में एक पक्षी उड़ता है।”

समीक्ष्य कृति

‘धरती अधखिला फूल है’

लेखक- एकांत श्रीवास्तव

मूल्य- 250 रुपये

प्रकाशक- राजकमल प्रा. लि. 1-बी.-नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110 002

अनुभूति की इस जटिलता से यह उजागर हो जाता है कि रचनाशीलता का प्रत्येक पहलू एक परिप्रेक्ष्य लिए होता है। यहाँ अर्थ-संभावना दीखती है कि हम अपनी वर्तमान वास्तविक स्थिति के अन्तर्विरोधों को समझकर के ही भावी दिशा पर विचार और उसका अन्वेषण कर सकते हैं। जॉन क्रोरेन्सम के अनुसार कला की स्वायत्तता कविता की अर्थवत्ता (मीनिंग) कविता की भाविता (वीइंग) होता है। कवि की इन प्राणमयी छटपटाहटों का भोक्ता और साक्षी पूरा मेहनतकश वर्ग है।

इसके अलावा लोकसंवेदना पर लिखी गई इनकी अन्य कविताएँ जो इस संकलन में संग्रहीत हैं। पाठ द्वारा पाठक उनमें जीवंत सम्पर्क महसूस करता है। उनमें लोकजीवन के बहुरंगी सम्मोहक बिम्ब रचे गए हैं। कविताओं में जिन समूहों को प्रकरण में लाया गया है उनमें मध्यवर्गीय, पूँजीवादी जटिलता इसलिए नहीं है कि ये विकास की समकालीनता से बहुत पीछे हैं। परन्तु उनमें जीवन की जिजीविषा और सामुदायिक प्रेम (राग) संबंध का क्षरण नहीं हुआ है।

कुछ प्रकृति संबंधी कविताएँ पाठक में प्रकृति के प्रति रागबोध को गहरा बना देती है। उदाहरण के लिए - समुद्र कविता “समुद्र इस पृथ्वी पर वाद्य है/ हवाएँ जिसे पीट-पीटकर बजाती हैं/ आकाश इसे बहुत दूर से सुनता है/ और तारे बहुत नीचे उतर आते हैं।”

इसी तरह प्यार संबंधी और व्यक्ति, घर, परिवार, माँ, बेटी संबंधी व्यक्तिगत कविताएँ पाठकों में यह जीवंतता पैदा करती है कि रुचियों के सरोकार जितने बहुआयामी होंगे उतने ही प्रताड़ित, सतह के नीचे उद्वेलित कठोर, द्वंद्व, संघर्ष और यातना से रिश्ते गहरे होंगे। ‘ग्रांड ट्रंक रोड’ तथा ‘तथागत’ कविताओं पर विस्तार से लिखने का यहाँ अवकाश नहीं है।

संपर्क:

एच/13 एल. आई.जी., 8/1 आर.पी. रोड, काशीपुर, कोलकाता-700002 (प. बं.), मो. 09038340568

जाने लड़की पगली : मातृ-स्वरूप का आख्यान

डॉ. अर्चना पांडेय

प्रवक्ता, हिंदी विभाग, खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता

जब काव्यानुशीलन एवं काव्य समीक्षा का प्रश्न समक्ष उपस्थित होता है तो मन में काव्यानुशीलन की परंपरा अनायास कौंध जाती है। हिंदी-साहित्य में काव्य समीक्षा की एक वृहद् एवं समृद्ध परंपरा रही है, जिसका प्रथम आधार संस्कृत-काव्यशास्त्र रहा है और कालावधि के साथ यह 'अनुशीलन' पाश्चात्य-समीक्षा शास्त्र से भी संपृक्त होता चला गया है।

साहित्येतिहास के अनुसार चार कालखंडों में विभक्त साहित्य का प्रथम तीन काल केवल 'काव्य' के ही मूल्यांकन एवं इतिहास की कथा कहता है, परंतु यह अविरल काव्य-सृजन की धारा हिंदी के लब्ध प्रतिष्ठ आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा प्रदत्त 'गद्यकाल' नाम (आधुनिक काल) में भी प्रवाहित होती रही। इस यात्रा में आदिकाल से प्रवाहित काव्य-धारा अपने 'रूपगत' एवं 'स्वरूपगत' परिवर्तन के साथ दार्शनिक एवं ऐतिहासिक धरातलों पर परिष्करण एवं परिवर्द्धन के साथ विकसित हुई।

समय के साथ काव्य समीक्षा के परिवर्तित मानदंडों के साथ विकसित आयामों की संदर्भ में भी शुक्ल जी का ही कथन स्मरण हो रहा है कि "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है।..... जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"

तात्पर्यार्थ, 'परिस्थितियाँ' ही साहित्य के परिवर्तन का केंद्रीय तत्त्व होती हैं, जो समीक्षण-मानदंडों की भी नियामक होती हैं। फलतः नवीन काव्य-कृति समय के साथ नयी आलोचन पद्धति का आधार ग्रहण करती गयी।

प्रथमतः यदि देखा जाये तो संस्कृत काव्यशास्त्री एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्री कविता में 'भाव' को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। विलियम वर्ड्सवर्थ ने यहाँ तक कह डाला कि "काव्य प्रबल भावों का सहज उच्छलन है।" (Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings.) किंतु यदि हिंदी काव्य समीक्षा पर विचार करें तो रीतिकालीन कवि घनानंद ने विचार और भाव दोनों को प्रभावी स्वीकार किया है, यथा—

“उर भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।

मृदु मंजु पदारथ भूषन सो सु लसै हुलसै राम-रूप मनी॥

रसना-अली कान गली मधि हवै पधरावति लै चित-सेज ठनी।

घन आनंद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझबार सुजान-धनी॥”

कहने का तात्पर्य यह है कि रीतिकालीन कवि ने समस्त संस्कृत समीक्षाशास्त्र के उपकरणों का प्रयोग उक्त सर्वैया में किया है, अर्थात् रीतिकालीन कविता का समीक्षणीय मानदंड पूर्व निर्धारित सिद्धांत ही रहे हैं, किंतु आधुनिक काल में कविता मुक्तिबोध के शब्दों में 'भावसंगत, तर्क-संगत, कार्य-सामंजस्य-योजित' बन गयी। अर्थात् कविता में केवल 'भाव-प्रवणता' ही न रह गयी अपितु उसमें 'बुद्धि-प्रवणता' का स्थान प्रमुख होता गया। इस संदर्भ में पुनः शुक्ल जी ही स्मरण में आ रहे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जब 'कविता क्या है' जैसे सैद्धांतिक निबंध में काव्य का मानदंड निर्धारित किया था तब साथ ही साथ काव्यालोचना का स्वरूप भी निर्धारित हो रहा था क्योंकि उनके दृष्टिपथ में उस समय छायावाद तक की ही कविताएँ थीं। परंतु, आज जब हम काव्य-पुस्तक या कविता की समीक्षा करते हैं तो शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट मानदंड समसामयिक काव्य-समीक्षा के लिए उपयुक्त नहीं ठहरते और समीक्षक को नव-विकसित आलोचन-पद्धति का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है जो वस्तुतः एकांगी ही होती है अतः कृति के मध्य से आलोचना हेतु कृति-सम्मत पद्धति का निर्वहण करना पड़ता है। इसी क्रम में सुनीता जैन की काव्य-पुस्तक 'जाने लड़की पगली' की समीक्षा हमारे सामने यह यक्ष-प्रश्न उपस्थित करती है कि उक्त पुस्तक की समीक्षाई का आधार क्या 'कथ्य और शिल्प', 'भावपक्ष और कलापक्ष', 'अनुभूति और अभिव्यक्ति' तथा 'अन्तर्वस्तु और रूप' हो अथवा विहित परिपाटी का आधार ग्रहण किया जाये या अद्यतन मानदंडों का आश्रय लिया जाय या कृति के माध्यम से एक नवीन आलोचन पद्धति का अन्वेषण किया जाय। उपस्थित प्रश्नों का उत्तर उक्त पुस्तक की पड़ताल के द्वारा ही दिया जा सकता है।

'जाने लड़की पगली' में कुल 76 कविताएँ हैं जो नारी के 'माँ स्वरूप' पर लिखी गयी हैं, जिससे स्त्री-विमर्श के एक नये आयाम का उद्घाटन होता है। 'स्त्री' अपने 'विमर्श' की परंपरागत परिपाटी से हटकर भिन्न दृष्टिकोण भी अपना सकती है, इन कविताओं का सृजन यह द्योतित करता है। समीक्ष्य काव्य-संग्रह के अनुशीलन के मध्य अनायास सूरदास का स्मरण हो जाता है। जिस प्रकार सूर ने कृष्ण की

बालभंगिमाओं का मनोरम एवं सूक्ष्म चित्रण कर अनेक दृश्यावलियाँ उपस्थित किया था उसी प्रकार कवयित्री ने माँ के जीवन के विभिन्न पहलुओं एवं भंगिमाओं का सूक्ष्म पर्यवेक्षण कर उसकी मनोभूमि का बिंब प्रस्तुत किया है, यथा—

“घर जाते रोटी में / ताजा मक्खन भरवा/ माँ कहती
'लो बन गया/ पपईया' -दो- दो को/ ले दोनों हाथों/ जा
छुपते सब/ खेत मटर के।” (पृ. 15)

“कन्याओं को देते/ समय रुपया/ फिर हँसना/ हँस
मुझको/ इन सबका / कुछ तो अर्थ बताओ/ नहीं तो/ जब
मेरी बेटी से/ उसकी बेटी पूछेगी/ 'ये सब क्या है'/ वह
बेचारी/ क्या बतलायेगी/ माँ सोचो तो ?/ और मैं कैसे/
बतला पाऊँगी/ मैं तो खुद ही छोटी थी—” (पृ. 20)

“कपड़े से दबा-दबा/ माँ तवे पर/ रोटी सेंकती है।/
आँच से तवे को उतारते/ माँ डरती है कहीं/ उसके हिलते
हाथों से/ गिर नहीं पड़े तवा उसके/ पैरों पर।” (पृ. 20)

विवेच्य संग्रह की कविताएँ केवल उपेक्षित बुजुर्गों की समस्याओं पर ही केंद्रित नहीं हैं, अपितु 'माँ' के जीवन के सर्व-पक्ष को प्रकाशित करती हैं। माँ जीवन के आरंभिक काल से ही उपेक्षित नहीं है, उसका अपने परिवार में गरिमामय स्थान है, उसके विचारों एवं निर्णयों का महत्त्व रहा है, जिसे संग्रह के निम्न अंश प्रकाशित करते हैं—
“यह संदूक बड़ा बचपन का/ छुपकर बैठे रहना चाहते थे
जिसमें/ हम सब बहन और भाई/ सुनते थे फिर माँ की
गहरी झिड़की/ दो सांस नहीं आयेगी यदि/ बंद हो गया
ऊपर से यह ढक्कन/ मन-भर-माटी/....दूँगी तुझको, 'वह
कहती, जब मेहंदी हाथ रचेगी।”

समीक्ष्य कृति में केवल 'माँ' के 'वर्तमान' और 'अतीत' को ही वर्णित नहीं किया गया है बल्कि आने वाली 'माँओं' की पीढ़ियों की स्थिति को भी संकेतित किया गया है। 'झूठ नहीं कहना' कविता में कवयित्री माँ के विराट रूप की कल्पना करती है। 'गैया के उफनते थनों में' माँ की झलक मिल जाती है, लेकिन पुनः वह अवसादग्रस्त हो जाती है और कह उठती है— तुम झूठ नहीं कहना, क्या जाते जो, वे/ वापिस आ पाते हैं? (पृ. 73) मातृहृदय की प्रेमाभिव्यक्ति कवयित्री गाय के माध्यम से करती हैं— “तुम अब तक कई बार/आ चुकी हो मेरी गौतमी/ गैया के उफनते थनों

में/ वह वत्सला मुझे देख/ रस्सी तुड़ाती, रंभाती है/ पर डरकर मैं ही पीछे-पीछे हट जाती हूँ” कवयित्री समस्त सृष्टि में माँ का स्पंदन देखती है जो ‘आधा संसार’, ‘कह नहीं सकती’, ‘मैंने देखा’, ‘सोचती हूँ’, ‘तसवीर’, ‘जिन वृक्षों ने’, ‘यह पीड़ा का रिश्ता है’, ‘सदानीरा’, ‘गर्मी में बस गर्मी होगी’, ‘शेष न होने देती’, ‘उसे भुला दे’ और ‘बाबुल देश’ जैसी कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है।

किसी भी कृति की सार्थकता एवं महत्ता का पर्याय उसकी संवेदना एवं अनुभूतियाँ ही नहीं होतीं बल्कि उसकी सफलता उसकी शैली एवं अभिव्यक्ति कौशल में भी निहित होती है। समीक्ष्य कृति का विषय तो अत्यंत सशक्त है, परंतु जब तक उसके शिल्प और स्वरूप की पड़ताल न कर ली जाये तब तक उसे ‘महत्’ की श्रेणी में अंतर्भुक्त नहीं किया जा सकता।

कविता के शिल्प विधान का ही आधुनिक काल के उत्तर समय में क्षरण हो रहा है। उसका शिल्प ही उसे अन्य विधाओं से स्पष्टतः विलग करता है किंतु वर्तमान समय में शिल्पगत वैशिष्ट्य के समस्त मान-मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं। पारंपरिक शिल्प विधान आज संरक्षित है, तो वह भी ‘गीतों’ में।

काव्यशास्त्रीय मानदंडों में शिल्प पक्ष में मुख्यतः छंद, अलंकार, प्रतीक, बिंब, लाक्षणिकता, और नाद सौंदर्य आदि अभिलिखित थे किंतु कालांतर में ‘गद्य’ के विकास के साथ-साथ छंद एवं अलंकार हीनता ही दृष्टिगत होते हैं

जबकि गद्य कविता में प्रतीक और बिंब का विकास हुआ और ये तत्त्व समीक्ष्य कृति में भी दृष्टिगत होते हैं। आचार्य शुक्ल की मानें तो ‘कविता बिंब ग्रहण’ भी कराती है। विवेच्य कृति में बिंबों के माध्यम से अनेक अर्थच्छवियाँ उपस्थित की गयी हैं— “लगाकर सांकले सारी/ गई रजनी/ सुखी, सोने/ लगी दीवार पर बिजली/ को जैसे/ नींद-सी- आने- नहीं पलकें मैं झपकाती/ बहुत जब/ याद आती हो।” (पृ. 46) रूपगत क्षरण उक्त कृति में भी दिखायी पड़ती है। कविता में स्थल-स्थल पर सपाटबयानी उसे बोझिल बना देती है, ‘सदानीरा’, ‘संदूक’, ‘कड़ी’, ‘जगती बहुत बड़ी है’ जैसी कविताएँ इसका प्रमाण हैं। द्रष्टव्य हैं— “फिर जाने कितनी दोपहरी- जलती थी जब उनकी/ नीले फूलों में पकी फली/ और मेरे नंगे पैरों की एड़ी/ पानी का छीटा दे-दे/ जगा दिया करती थी माँ/ मेरी मैया के बालपने में/ यह जगती बहुत बड़ी थी।” (139-140)

सारांशतः विवेच्य कृति स्त्री-विमर्श की एक अन्यतम कृति है जो स्त्री-विमर्श में नवीन क्षितिज का उद्घाटन करती है।

समीक्ष्य कृति

‘जाने लड़की पगली’ (कविता संग्रह)

कवयित्री- सुनीता जैन

प्रकाशन : रेमाधव पब्लिकेशन्स प्रा. लि. सी- 94, सेक्टर- 63, नोएडा, गौतमबुद्धनगर- 201301 (उ.प्र.)

मूल्य- 160/-

संपर्क :

द्वारा- श्री प्रदीप कुमार पाठक

311, रवीन्द्र सरणी, नूतन बाजार-700006

मो. 9830839032

विश्व हिंदी सम्मेलनों की उपलब्धियाँ और सीमाएँ : राष्ट्रीय संगोष्ठी

5 दिसम्बर 2015 को 'भारतीय भाषा परिषद्' में 'अपनी भाषा' संस्था के द्वारा राष्ट्रीय संगोष्ठी 'विश्व हिंदी सम्मेलनों की उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ' विषय पर आयोजित की गई। कार्यक्रम की अध्यक्षता राँची विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग के पूर्व आचार्य प्रो. रविभूषण ने किया तथा मुख्य अतिथि प्रो. चित्तरंजन मिश्र (प्रतिकुलपति, म.गा.अं.हि.वि., वर्धा) मुख्य वक्ता श्री भगवान सिंह तथा डॉ. कृपाशंकर चौबे थे।

उक्त कार्यक्रम में स्वागत भाषण देते हुए 'अपनी भाषा' के महासचिव प्रो. अरुण होता ने कहा कि भाषा हमारे लिए 'अस्मिता, संस्कार एवं संस्कृति का प्रतीक है।' मुख्य वक्ता प्रो. भगवान सिंह ने विश्व हिंदी सम्मेलनों की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए कहा कि वर्तमान समय में हिंदी की जड़ें खोखली हो रही हैं जो ऐसे सम्मेलनों के छलावे को ही प्रदर्शित करती है। प्रो. चित्तरंजन मिश्र ने भाषा को 'जीवन-प्रणाली' से जोड़ते हुए कहा कि 'भाषा बदलती है तो जीवन प्रणाली भी बदल जाती है।' डॉ. कृपाशंकर चौबे ने अपने वक्तव्य में 'विश्व हिंदी सम्मेलनों की धारावाहिक आयोजन' को ही उनकी उपलब्धि बताया। अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए प्रो. रविभूषण ने कहा कि आज हम एक 'छलिया' और 'आभासी' समय में रह रहे हैं। अतः ऐसे समय में इन सम्मेलनों का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, क्योंकि भाषा के विकास का प्रश्न राष्ट्र के निर्माण से जुड़ा हुआ है। कार्यक्रम में आनंद दास ने शोध पत्र वाचन किया, संचालन अभिजीत सिंह ने किया तथा धन्यवाद ज्ञापन डॉ. सत्यप्रकाश तिवारी ने किया।

प्रस्तुति- जीवन सिंह

लोकार्पण सह परिचर्चा गोष्ठी का आयोजन

पूर्णिया पाठक मंच, पूर्णिया के तत्वावधान में पिछले दिनों शिव नारायण शर्मा 'व्यथित' के आवास पर वरिष्ठ कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल की अध्यक्षता में डॉ. सुवंश ठाकुर 'अकेला' की काव्यकृति 'खुली आँखों के सपने' का लोकार्पण, सह परिचर्चा गोष्ठी आयोजित की गयी। जिसका संचालन कथाकार राजू गोशपु ने किया। संगोष्ठी के प्रथम सत्र में राष्ट्रीय फलक के यशस्वी कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल के करकमलों द्वारा कृति का लोकार्पण संपन्न हुआ तथा दूसरे सत्र में परिचर्चा गोष्ठी आयोजित की गयी। मंच के वरिष्ठ सदस्य एवं समर्थ समीक्षक अरुण अभिषेक ने 'अकेला' की काव्य-कृति पर रोशनी डालते हुए कहा कि डॉ. सुवंश ठाकुर की कविताएँ जीवन यथार्थ के बहुस्तरीय दृश्यों, बिंबों एवं कथ्यों को एक सीमा के बाद अपने भीतर के उबाल को बेहद संजीदगी से प्रस्तुत करने में अभ्यस्त हैं, क्योंकि बाजारवाद और उपभोक्तावाद के इस लोलुप लम्पट समय में मानवीय मूल्यों के साथ जीना दुरूह है। मंच के संयोजक कवि शिव नारायण शर्मा 'व्यथित' ने संग्रह की कविताओं पर दृष्टि डालते हुए कहा कि कवि 'अकेला' लोक-चेतना संपन्न कवि हैं, इनकी काव्य-भाषा बेलाग एवं पारदर्शी है। बिना किसी अभिव्यंजना के कवि अपने समय के यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं। अपने परिवेश की दृश्यानुभूतियों के छोटे-छोटे चित्रों की यह संग्रह एक कोलाज है, जिसमें कहीं अभावग्रस्त बच्चों का चित्र है तो कहीं एक उदास माँ या बूढ़े पिता का चेहरा है। कहीं सपनों के टूटने की

अन्तर्वेदना भी है। राजभाषा अधिकारी परशुराम ने कहा कि 'अकेला' एक सिद्धहस्त कवि हैं, जिनकी कविताओं में भाषायी क्लिष्टता नहीं है। शब्द चयन के प्रति इन्होंने काफी संजीदगी बरती है क्योंकि ये कथ्य को शब्दों में पिरोने का हुनर जानते हैं। कवि बालकृष्ण कुँवर ने कहा कि संग्रह की अधिकांश कविताएँ समाज के बदलते स्वरूप और मानक को प्रतिबिंबित करते हुए जीवन के विविध पक्षों की चुनौतियों को उकेरती हैं। उक्त कृति के कवि डॉ. सुवंश ठाकुर 'अकेला' ने मंच से बोलते हुए संग्रह के काव्यांश- 'कवि नहीं बता सकते/ अपनी कविताओं का अर्थ ?/ कवि: करोति काव्याणि/ रसास्वादयन्ति पंडिताः।' के माध्यम से भावाभिव्यक्ति को श्रोताओं समक्ष रखा और कहा कि सामाजिक सरोकार से तादात्म्य में रखने वाली कृति ही प्रसिद्धि के सोपानों पर आरूढ़ हो सकती है, जिसके अंदर सरलता एवं सहजता की अनुगूँज व्याप्त हो। संगोष्ठी के समापन पर अपने अध्यक्षीय संभाषण में चंद्रकिशोर जायसवाल ने कहा कि यद्यपि 'अकेला' की यह दूसरी काव्य-कृति है फिर भी इसमें कोई कच्चापन नहीं है अपने गांभीर्य को लेकर पराकाष्ठा को छूती नजर आती है। कुछ कविताएँ स्त्री-पक्ष को लेकर संग्रह में आयी हैं और इन कविताओं की पहचान संग्रह की उपलब्धि के रूप में की जा सकती है, ये वे स्त्रियाँ हैं जो कामकाजी हैं, श्रमिक हैं, जिनके प्रति सभ्य समाज असंवेदनशील एवं क्रूर है। 'अकेला' भविष्य में इनसे और अच्छी कविताओं का प्रणयन करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। इस सारस्वत संगोष्ठी में मनोज सिन्हा, उज्ज्वल अभिषेक, राजकुमार प्रसाद, शैवाल मित्रा, मनु प्रमोद, शंभुनयन, आशालता, अनुष्का, अनुकृति, रेखा आनंद, राखी आनंद, श्रेया या श्रुति के अलावे काफी संख्या में शिक्षाविद्, पाठक एवं श्रोता उपस्थित थे।

प्रस्तुति : शिव नारायण शर्मा 'व्यथित'

‘मुक्तांचल’ का ‘जुलाई-सितम्बर 2015’ का अंक मिला है। अपने नाम के अनुरूप ही यह अंक वर्तमान और अतीत के साहित्यिक वातायन का गुणवत्ता पूर्ण अनावरण करने वाला है। डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र ने हिंदी आत्मकथा साहित्य पर तात्त्विक विमर्श प्रस्तुत किया है तो श्री विमल वर्मा के आलेख में कथा के आंतरिक संबंधों पर मनोवैज्ञानिक वाच्यता पर विचार किया गया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्रों की उपादेयता तत्कालीन साहित्यिक और सामाजिक संदर्भों की सूचना परक महत्त्वपूर्ण प्रस्तुति है। भाषांतर स्तम्भ के अंतर्गत तेलगू कहानी में व्यक्त संवेदना के मानवीय पक्ष को अनुवादक ने सफलतापूर्वक व्यक्त किया है।

भाषा और साहित्य की राजनीति का अरुचिकर परिदृश्य सोचनीय है। आपने अपने संपादकीय आलेख में भाषा के पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले तत्त्वों से सावधान रहने के महत्त्व को तथा साहित्यिक मूल्यों के संरक्षण को समझने का जो विचार व्यक्त किया है वह साहित्यकारों के लिए विशेष चिंतन प्रस्तुत करने वाला है। इस अंक की प्रस्तुति उत्तम और स्थाई महत्त्व की है। पुनः पुनः आभार।

सूर्य प्रसाद शुक्ल, कानपुर

‘मुक्तांचल’ के प्रथम अंक से ही मैं इसका पाठक रहा हूँ। यह एक अत्यंत गंभीर गवेषणाधर्मी, सृजनशील, साहित्यिक पत्रिका है, शुरू से ही इस पत्रिका में आपने राष्ट्रीय स्वरूप को बचाए रखा है। इसमें गुणवत्ता के साथ कभी भी समझौता नहीं किया है। हिंदी के अति प्रसिद्ध विद्वानों के साथ-साथ नई पीढ़ी के संभावनाशील रचनाकारों को समान रूप से स्थान दिया है। इससे पत्रिका के संपादकों की व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है। ‘मुक्तांचल’ से मेरा अनुरोध है कि यह अपने इस साहित्यिक प्रयास को बनाए रखे तथा राष्ट्रीय स्तर के रचनाकारों को समान रूप से प्रकाशित करती रहे। प्रत्येक अंक का संपादकीय गहरी सूझ-बूझ तथा व्यापक दृष्टि का परिचायक है। समकालीन समस्याओं तथा चुनौतियों को अत्यंत गंभीर रूप से संपादकीय में स्थान मिलता है।

इसका प्रत्येक अंक गहन-विचार विमर्श की माँग करता है। मुझे पूरी उम्मीद है कि हिंदी-प्रेमियों को ‘मुक्तांचल’ नई दृष्टि और बौद्धिक ऊर्जा प्रदान करने की पूरी सामर्थ्य रखती है।

‘मुक्तांचल’ की पूरी टीम को मेरी ओर से बहुत-बहुत बधाईयाँ।

प्रो. अरुण होता, कोलकाता

‘मुक्तांचल’ का नया अंक पढ़ा। सर्वप्रथम वरिष्ठ कथाकार श्री चंद्रकिशोर जायसवाल की चर्चित कहानी ‘नकबेसर कागा ले भागा’ का अन्तः पाठ, भाई अरविंद कुमार जी की शुकुगुजार हूँ। उन्होंने कहानी पर अपनी पारदर्शी अभिव्यक्ति दर्ज कर कहानी के सौंदर्य और जीवनानुभूत यथार्थ को बखूबी व्यक्त किया है। यकीनन, रचना-दृष्टि में कथा को नये सिरे से महसूसने जैसा है।

इस शहर की सक्रिय संख्या ‘पूर्णियां पाठक मंच’, पूर्णियां की गतिविधि से अवगत होना, खुशी से भरती है। इस क्षेत्र की सशक्त पाठकीय हस्तक्षेप बराबर रचनात्मक- मंचों से जुड़ी हुई है। अंक के सारे महत्त्वपूर्ण रचनाओं के लिए आभार!

मंजुला उपाध्याय मंजुल, पूर्णिया, बिहार

‘मुक्तांचल’ जुलाई-सितम्बर 2015 अंक मिला। धन्यवाद! अंक कुल मिलाकर अच्छा लगा। आपने भीष्म साहनी और एम. एम. कलबुर्गी को याद किया, यह देखकर अच्छा लगा। दामोलकर, पनसारे और कुलबर्गी की हत्या के विरोध में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त लेखकों द्वारा पुरस्कार लौटाये जाने का सिलसिला भी जारी हो गया है जो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर जन-जागरण के लिए प्रेरक का भी काम करेगा। दादरी की हिंसक घटना तो अल्पसंख्यक समुदाय को मौजूदा सरकार की खिलाफत के लिए प्रेरित करेगी ही जिसको इस देश की अधिकांश जनता का समर्थन प्राप्त होगा। ऐसी घटनाएँ सरकार के पतन का ही मार्ग प्रशस्त करेंगी।

रामनिहाल गुंजन, आरा

‘मुक्तांचल’ के कुशल संयोजन-प्रबंधन-प्रकाशन और संपादन के लिए बधाई और धन्यवाद! पश्चिम बंग हिंदी साहित्यिक परिवृत्त में ‘मुक्तांचल’ पर्याप्त उथल-पुथल ले आया है। राज्य के बाहर के साहित्यिक भी इससे जुड़ रहे हैं और रचनात्मक अंशदान कर रहे हैं, यह सुखद है।

डॉ. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, शांतिनिकेतन, पश्चिम बंगाल

‘मुक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

मानव प्रकाशन : 131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

ओम न्यूज एजेंसी : रंगमहल टाकीज के सामने, न्यू मार्केट भोपाल

श्री सुमन कुमार : प्रगतिशील पुस्तक भंडार, इलाहाबाद बैंक के सामने,
अशोक राजपथ, पटना-800004

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन : 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

ज्ञानदीप : नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

लालमणि साव बुक स्टॉल : आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301

केंद्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मोडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेलजियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com

directorofkhs@yahoo.co.in

इस पार तक...

वीरेन डंगवाल
(05 अगस्त 1947 - 28 सितंबर 2015)



वीरेन डंगवाल जनवादी कविता के सशक्त हस्ताक्षर रहे हैं। उन्होंने अपने रचना संसार में समाज के आमजन एवं हाशिये पर पड़े लोगों को सहज ढंग से शामिल किया है। सन् 1971 से इन्होंने बरेली कॉलेज में अध्यापन किया था। वे पत्रकार भी थे और अपनी जनपक्षधरता से कभी भी विलग नहीं हुए। विगत 28 सितम्बर 2015 को हुए उनके दुःखद अवसान पर 'मुक्तांचल परिवार' उन्हें अपनी अशेष श्रद्धा प्रेषित करते हुए शेष-स्मृति के रूप में उनकी एक कविता उद्धृत करता है।

नयी संस्कृति

वह आग नहीं है
वह एक सर्वथा नयी राष्ट्रभाषा है
सड़क पर अभी भी चिपचिपाता
वह खून नहीं
वह है
एक नयी किस्म की रोशनाई
जली हुई
उन उजाड़ बल्लियों में
आकार ले रहा है
हमारा नूतन स्थापत्य
पटककर मार दिया गया वह बच्चा
वह हमारा भविष्य है।

वे हमारे युग के महानायक-अखिरकार
सफल होते दिखायी देते हैं जब
एक अनूठी संस्कृति रचने के
उनके मनसूबे
फिर क्यों डर जाते हैं वे मन-ही-मन
जयघोष करती उन्मत्त भीड़ के चेहरों को देखकर
गौर से ?

(दुश्चक्र में स्रष्टा)

Application No:1254088

Title code: WBHINO1615/25/1/2014-FC, Dtd: 18/07/2014

हवड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण मल्लुह,
शिक्षण, 50 सीताराम बेष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/14 आणुकेष मुखर्जी लेन,
सरकिया, हवड़ा-711106 से प्रकाशित।
संपादक : डॉ. मोरा सिन्हा